गीता ज्ञान की कुंजी

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास

खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान

खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता

खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम, शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- श्री सुशील कुमार ताम्बी
  प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
  A/3 आर्य नगर
  एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
  मुरलीपुरा, जयपुर 302039
  फोन : 0141-2233765
  मो. : 09829547773

- **ज्ञान गंगा प्रकाशन**
  पाथेय भवन,
  बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
  दूरभाष : 0141-2371563

- **अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना**
  आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
  नई दिल्ली 110055
  फोन : 011-23675667

- **जागृति प्रकाशन**
  श्री कृष्णानन्द सागर
  एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
  दूरभाष : 0120-2538101
  मो. : 09871143768

प्रथम संस्करण : 2013 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : एक सौ बीस रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

GITA GYAN KI KUNJI (Hindi)
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 120

सम्पादकीय

गीता वह दिव्य आध्यात्मिक संगीत है जिसे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ने गीत के माधुर्य के साथ गाया है। यह एक दार्शनिक गीत है जिसमें देशीय, कालीय एवं कर्मकाण्डीय तत्त्व न होने से तथा इसका वैचारिक जादू न केवल भारतीय मनीषा को वरन् विश्व मनीषा को अपने जन्म लग्न से आज तक आकृष्ट करता आ रहा शाश्वत एवं पूर्ण दर्शन है। इसकी तुलना निर्मल हीरे से की जा सकती है। हीरे से प्रकाश पाने के लिए उसे तराशना पड़ता है। गीता को कर्मयोग की दृष्टि से देखेंगे तो कर्मयोग का पूर्ण प्रकाश मिलेगा। ध्यानयोग की दृष्टि से देखेंगे तो ध्यानयोग का पूर्ण प्रकाश मिलेगा। भक्तियोग की दृष्टि से देखेंगे तो भक्तियोग का पूर्ण प्रकाश मिलेगा। ज्ञानयोग की दृष्टि से देखेंगे तो ज्ञानयोग का पूर्ण प्रकाश मिलेगा। आध्यात्मिक दृष्टि से देखेंगे तो गीता जैसा कोई ग्रंथ नहीं मिलेगा। अवतारी महापुरुषों की दृष्टि से देखेंगे तो भगवान् कृष्ण जैसा कोई व्यक्तित्व नहीं मिलेगा। आज जाने-अनजाने में राष्ट्र एवं विश्व जिन समस्याओं से घिर गया है, उससे उबारने की क्षमता किसी ग्रन्थ में है तो वह भगवद्गीता में है, भगवान् कृष्ण में है। अमरीका का प्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन कहता है—जीव और जगत् की कोई ऐसी समस्या नहीं है जिसका समाधान गीता के पास न हो और सचमुच में, न केवल आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक जगत् में वरन् जीवन के हर व्यावहारिक क्षेत्र में, चाहे वह व्यावसायिक जगत् हो, औद्योगिक जगत् हो, प्रबंधकीय जगत् हो, चिकित्सा जगत् हो, अपराध शमन जगत् हो, खेल जगत् हो, वैज्ञानिक जगत् हो, पर्यावरणीय जगत् हो, युद्ध क्षेत्र हो, शिक्षा जगत् हो—इन सभी क्षेत्रों में गीता का सफल प्रयोग हो रहा है। इन सब क्षेत्रों की सफलता में गीता का विशिष्ट अवदान है।

जैसे-जैसे समय आगे बढ़ रहा है, विज्ञान आगे बढ़ रहा है और सारा विश्व हिन्दू धर्म-दर्शन, संस्कृति सभ्यता, जीवन-मूल्य, परम्परा, उत्सव, आहार-विहार से परिचित होता जा रहा है, इसके प्रति उसका आकर्षण बढ़ता जा रहा है। इसकी मांग बढ़ती जा रही है। इसकी कुछ चर्चा मैंने डॉ. हरवंशलाल ओबराय के चतुर्थ खण्ड की सम्पादकीय में और गीता की विश्वव्यापी प्रतिष्ठा में की है। अब निरन्तर हिन्दू धर्म के पक्ष में विश्व स्तर पर कुछ घटनाएं घटती जा रही हैं, इसका वातावरण बनता जा रहा है। इसका कुछ विवरण इस प्रकार है—हम सब जानते हैं ग्रामोफोन की रिकॉर्ड प्लेट का आविष्कार थॉमस अल्वा एडीशन ने किया, तो उसमें उस समय किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के बोल सर्वप्रथम रिकॉर्ड करना चाहा, इस दृष्टि से मैक्समूलर से सम्पर्क किया। मैक्समूलर एडीशन का बहुत मान करते थे। इस दृष्टि से एडीशन को जिस समय यूरोप के अधिकांश विद्वान इंग्लैण्ड के सम्मेलन

में एकत्रित होने वाले थे, उसमें बुलाया। एडीशन निर्धारित तिथि पर उक्त सम्मेलन में पहुंचे। जहां उनका भव्य स्वागत हुआ। विद्वानों के बीच में एडीशन ने अपने यंत्र में मैक्समूलर को बोलने को कहा। तब मैक्समूलर ने एक वचन कहा। जब कुछ समय बाद उस वचन की पुनः हू-ब-हू आवाज को श्रोतागण सुनकर करतल ध्वनि से स्वागत किया तो इस आवाज के विषय में मैक्समूलर ने स्पष्ट किया कि संस्कृत भाषा में ऋग्वेद का प्रथम मंत्र है। वेद मानव जाति का प्रथम प्रकाश है, आलोक है, पुस्तक है। यह उस समय की बात है जब यूरोप के लोगों ने बन्दर की पूँछ काटकर मनुष्य बनना नहीं सीखा था, कच्चा मांस खाते थे, अपने तन को पत्तों से ढकते थे। उस प्राचीन काल में भारतीयों ने उच्च सभ्यता का विकास कर लिया था और उन्होंने वेद के रूप में दुनिया को सर्वकल्याणकारी दर्शन उपलब्ध कराया। मैक्समूलर ने एडीशन से इस रिकॉर्ड को पुनः बजाने का अनुरोध किया। इस बार जब 'अग्निम् इळे पुरोहितम्' की ध्वनि हुई तो वहां उपस्थित समुदाय भारतीय मनीषियों के प्रति श्रद्धा भाव से मौन होकर खड़े हो गये। इस बार करतल ध्वनि के स्थान पर श्रद्धा युक्त शान्ति थी।

करीब तीन साल पहले तत्कालीन राष्ट्रपति प्रतिभा पाटील के मुख्य अतिथित्व में चाइना में भगवान बुद्ध के नये भव्य मन्दिर का उद्घाटन हुआ। उसमें भगवान बुद्ध की स्वर्ण मूर्ति प्रतिष्ठित है। और इसमें सारा अर्थ-व्यय जन सहयोग से हुआ है।

रूस में स्थित साइबेरिया के किसी एक लोवर कोर्ट ने गीता को आतंकवादी ग्रंथ घोषित कर प्रतिबंध लगाने की तैयारी कर ली थी। पर फैसला देने से पूर्व वहां की लोकसभा के सभी सदस्यों ने सर्वसम्मति से गीता को सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ कहा और प्रतिबंध की कड़ी भर्त्सना की। ऐसे व्यक्ति को पागल तक कहा। विश्व के अनेक देशों में गीता के समर्थन में आवाज उठी। भारतीय संसद ने पहली बार सर्व सम्मति से गीता के समर्थन में आवाज उठाई। अतः कोर्ट को गीता के समर्थन में फैसला देना पड़ा। असल में ईसाइयत गीता से भयभीत है, उसे अपने प्रसार में बाधक समझकर के ऐसे ओछे हथकण्डे अपनाती रहती है।

ऐसे ही करीब डेढ़-दो माह पूर्व अमेरीका के किसी कोर्ट में किसी नागरिक ने योग केन्द्र में होने वाले ओम की ध्वनि के विरुद्ध याचिका दायर की। उसका मन्तव्य था ओम के साथ हिन्दुत्व की सारी बातें आने लगती हैं, इससे सारे अमेरीका में हिन्दुत्व छा जायेगा। कोर्ट ने उसकी याचिका को रद्द कर दिया और 'ओम' ध्वनि में ऐसी किसी आपत्ति को स्वीकार नहीं किया।

अभी हाल में ही इंडोनेशिया, जो विश्व का सबसे अधिक मुस्लिम जनसंख्या वाला देश है, उसने अमेरीका की राजधानी वाशिंगटन को एक सरस्वती की प्रतिमा

भेंट की। यह सुन्दर मूर्ति सोलह फुट ऊँची है और इसमें कमल के पुष्प पर विद्या की देवी सरस्वती खड़ी हैं। विद्या की देवी होने के कारण ही यह प्रतिमा अमेरीका को भेंट की गई है। अमेरीका में इसका सम्मान करते हुए मूर्ति भारतीय दूतावास से कुछ दूरी पर महात्मा गांधी की मूर्ति के सामने स्थापित की गई है। यह महात्मा गांधी की प्रतिमा कुछ वर्ष पूर्व वहां स्थापित की गई थी।

व्हाइट हाउस से कुछ दूरी पर स्थापित यह प्रतिमा औपचारिक उद्घाटन के पूर्व से ही शहरवासियों और टुरिस्टों के आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है।

आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैण्ड आदि की संसद में विगत आठ वर्षों से शानदार ढंग से हिन्दू विधि से हिन्दू पंडित से मंत्रोच्चार करवाकर सरकारी स्तर से दीपावली उत्सव मनाते हैं।

विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में गीता के मुख्य अंश पाठ्यक्रम में डाले हुए हैं।

इस प्रकार हिन्दू धर्म को पुनः विश्वस्तर पर मान्यता मिलती जा रही है और हिन्दू धर्म से स्वतः आकर्षित होकर विश्ववासी इसे अपनाते जा रहे हैं।

शोपेनहावर एवं गांधीजी की भविष्यवाणी सत्य होती प्रतीत होती है। उन्होंने कहा था—'मैं विश्वास करता हूं कि जो पन्द्रहवीं शती में ग्रीक साहित्य के अनुशीलन ने पुनर्जागरण किया था, उससे कम गहरा प्रभेदकारी प्रभाव संस्कृत साहित्य न रहा होगा।' गांधीजी कहते हैं—'हिन्दुत्व सत्य की सतत साधना है और यदि आज यह मृतप्राय निष्क्रिय विकास के प्रतिकूल हो गया तो इसका कारण है कि हम थक गए हैं और जैसे ही हमारी यह थकान दूर होगी, हिन्दुत्व सम्पूर्ण विश्व में एक ऐसी प्रखर दीप्ति के साथ छा जायेगा जो सम्भवतः इससे पहले सभी को अज्ञात होगी।' सारा विश्व निरन्तर इस ओर बढ़ रहा है।

यह सारी सामग्री डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र के पंचम खंड से और अंतिम लेख चौथे खंड से संकलित है।

यह पुस्तक परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद एवं सांखला प्रिंटर्स के सौहार्द पूर्ण प्रिटिंग कार्य में सहयोग से प्रकाशित हो रही है।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि
सम्पादक व संकलनकर्ता
मो. 09413769139

अनुक्रम

भारतीय दर्शन की पूर्णता

दर्शन का इतिहास भारत से न कि यूनान से

दर्शन के क्षेत्र में भारत विश्व का शिरोमणि देश है। वास्तव में भारत ने अन्तर्जगत् में डुबकी लगा कर जिन अमूल्य विचार-रत्नों की उपलब्धि प्राप्त की है उसके सम्मुख शेष विश्व की समस्त सम्पदा फीकी पड़ जाती है। यह दुर्भाग्य की बात है कि पश्चिम में लिखित अधिकांश दर्शन के इतिहास की कथा यूनान से प्रारम्भ करते हैं। यूनान में छठी शताब्दी ई. पू. से दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ होता है, जबकि भारत में यह काल प्रखर दार्शनिक वाद-विवाद का भास्वर मध्याह्न काल है। पश्चिम में जब प्रथम दार्शनिक थेल्स अनुमान लगा रहा है कि सम्भवतः जल ही सृष्टि का परम सत्य है। उस समय तक भारत में वैदिक दर्शन, उपनिषदों का महानतम वेदांत दर्शन, कल्पसूत्र, जैन एवं बौद्ध आचार्य दर्शन—सभी पूर्णतः विकसित एवं प्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः संसार में दर्शनशास्त्र का इतिहास भारत से प्रारम्भ होना चाहिए न कि यूनान से।

संसार में श्रेष्ठतम आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि एवं बौद्धिक दर्शन

डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में—'संसार भर में सम्भवतः आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि अथवा बौद्धिक दर्शन की ऐसी कोई भी ऊँचाई नहीं है कि जिसका सममूल्य वैदिक ऋषियों और अर्वाचीन नैयायिकों के मध्यवर्ती विस्तृत ऐतिहासिक-काल में न पाया जाता हो।'

भारतीय दर्शन की पाश्चात्य दर्शन की तुलना में श्रेष्ठता

सर डब्ल्यू हंटर के शब्दों में—'भारतीय दर्शन ने उन समस्त दार्शनिक गुत्थियों के संभावित समाधान खोज लिए थे, जो गुत्थियाँ प्रारम्भ से यूनानियों, रोमनों और मध्यकालीन यूरोपीय चिन्तकों को परेशान करती रहीं और आज तक वैज्ञानिकों को भी उलझन में डाले हुए हैं।'

मिसेज़ मैनिंग़ के शब्दों में—'हिंदुओं के मन एवं चिन्तन का उतना अधिकतम विस्तार हो चुका था जितना मानव के लिए कभी भी सम्भव हो सकता है।'

प्रो. श्लेग़ल (जर्मनी) कहते हैं—'यूरोप का सर्वोच्च दर्शन, बौद्धिक अध्यात्मवाद, जो यूनानी दार्शनिकों से प्रारम्भ हुआ, प्राच्य अध्यात्मवाद के अनंत प्रकाश एवं प्रखर तेज के सम्मुख ऐसा प्रतीत होता है जैसे मध्याह्न के प्रखर सूर्य के दिव्य प्रकाश के भरपूर वेग के सम्मुख एक मन्द-सी चिनगारी हो जो धीरे-धीरे टिमटिमा रही हो और किसी भी समय बुझ सकती है।'

काउंट जॉर्न्स जेर्ना का कथन है—'यूनान और रोम के दार्शनिकों की तुलना में हिंदू दार्शनिक बहुत-बहुत आगे थे।'

प्रो. वेबर का मूल्यांकन है—'दर्शन के ही क्षेत्र में भारतीय मनीषा ने चमत्कारी प्रतिभा के सर्वोच्च शिखर को प्राप्त किया था।'

दर्शन मात्र बौद्धिक वाणी-विलास नहीं वरन् जीवन की सर्वोच्च साधना

भारत में पश्चिम की तरह दर्शन केवल बुद्धि व्यायाम अथवा वाणी का विलास मात्र नहीं था वरन् वह तो जीवन की सर्वोच्च साधना ही थी। जीवन का परम लक्ष्य है पूर्णत्व, अमरत्व अथवा मोक्ष को प्राप्त करना। तदर्थ सत्य का साक्षात्कार अनिवार्य है। सत्य की उपेक्षा करके केवल दिमागी उछल-कूद या बुद्धि के बन्दर-नाच से कोई पूर्ण पुरुष या मुक्त पुरुष नहीं बन सकता। गुरुग्रंथ साहिब में लिखा है—

चतुराई न चतुर्मुख पाया।
भोले भाव मिले रघुराया।। (रविदास)

पश्चिम ने आर्मचेयर फ़िलॉसफ़र (आरामकुर्सी दार्शनिक) अधिक पैदा किए हैं। उदाहरण के रूप में इंग्लैण्ड के बर्ट्रेण्ड रसेल पश्चिम के महानतम विचारक माने जाते थे, किन्तु 80 वर्ष की अवस्था में 16 वर्ष की सुन्दरी से जीवन का 16वाँ विवाह रचाते हैं, आराम से कुर्सी में पड़े हुए, मुख में सिगार लिए, एक ओर सुरा दूसरी ओर सुन्दरी को थामे हुए दार्शनिक समस्याओं पर लिखने या बोलने वाले विलासी व्यक्ति के दर्शन को खोपड़ी के खेल से अधिक और क्या कहा जा सकता है?

भारत में दर्शन को जीवन की परम साधना एवं सर्वोच्च सिद्धि माना गया है।

गीता के दार्शनिक भगवान् कृष्ण, भगवान् बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य आदि क्रियात्मक दार्शनिक थे, जिनकी कथनी-करनी में खाई नहीं थी। इसलिए भारत में दर्शन केवल मनोरंजन या बुद्धिरंजन का विषय न होकर जीवन की जीवन्त साधना का अंग रहा है।

श्रीमद्भगवद्गीता

नामकरण

श्री=शुभ, लक्ष्मी, विभूति, तेज, वैभव, दिव्यता

भगवत् = भगवान्, भग = तेज, भगवान् = तेजवान

गीता = गीतिका—गीत स्त्रीलिंग रूप में।

श्रीमद्भगवद्गीता = भगवान् का दिव्य गीत।

The Song Divine

The Song Celestial

The Song of God.

जीव का रोना? तथा भगवान् का गाना

गीता का प्रथम अध्याय अर्जुन का विषाद योग है। विषाद का अर्थ है दुःख। दुःख में जीव रोता है। प्रत्येक जीव रोते हुए जन्म लेता है। शैशव में भोजन के लिए रोता है, जवानी में कामनापूर्ति के लिए रोता है, प्रौढ़ावस्था में रोजी-रोटी के लिए रोता है, दरिद्रता में अभाव के कारण रोता है, सम्पन्नता में क्षति, चिन्ता, ईर्ष्या, वैर, वैमनस्य के कारण रोता है, वृद्धावस्था में चिन्ता से रोता है, रुग्णावस्था में मृत्यु के भय से रोता है, रोते हुए मरता है और समाज को रुला कर जाता है।

जीव के दुःख के कारण

(1) तीन ताप=आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक।

(2) पंच क्लेश=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मृत्यु का भय)

अर्जुन का विषाद जीव के रोने का प्रतीक है। इसके उपचार के लिए भगवान् गीता सुनाते हैं। अतः गीता का प्रथम संदेश है—हे जीव! अपना रोना छोड़कर भगवान् का गाना गाओ।

गीता—आनन्द का प्रस्फुटन

गीत आनन्द में गाया जाता है। हृदय में आनन्द की तरंग ही गीत के रूप में

स्फुटित होती है। आनन्द से जब हृदय की वीणा झंकृत होने लगती है तभी गीत का अवतार होता है।

गीत का जन्म कहां से

(1) स्थूल दृष्टि से रेडियो का बक्सा।

(2) उससे सूक्ष्म—बिजली के तार से, रेडियो स्टेशन भवन, रेडियो स्टेशन का स्टूडियो (कमरा), ध्वनि रिसीवर (यंत्र)।

गायक के मुख से।

गायक के कण्ठ से।

गायक के हृदय से।

आत्मा की झंकार=गीत।

गीता

सच्चिदानन्दकंद भगवान् श्रीकृष्ण की आत्मा की झंकार।

भगवान् का हृदय

भगवान् स्वयं कहते हैं—

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे शास्त्रमुत्तमम्।

(हे अर्जुन! गीता मेरा हृदय है, यही मेरा उत्तम शास्त्र है)

सत्+चित्+आनन्द=सच्चिदानन्द—आनन्दों के घन—आनन्द के स्रोत, आनन्दों के आनन्द—परम आनन्द। अतः उनके द्वारा गाया हुआ गीत आनन्द का गीत, परमानन्द का गीत है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।। तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.6

The eternal spiritual music of India—गीता भारत का शाश्वत अध्यात्म संगीत है। कहीं भी विश्वभर में अध्यात्म को गीत में समझाकर नहीं बताया। भारत में सर्वोच्च ज्ञान को एक गीत के माधुर्य के साथ गाकर प्रस्तुत किया। यह विश्व का एकमात्र दार्शनिक गीत है। दर्शन को लोगों ने बहुत दुरूह भाषा एवं गद्य में प्रस्तुत किया है। भारत ने अपने दर्शन को एक संगीत के माध्यम से व्यक्त किया है। संसार का एकमात्र दार्शनिक गीत है—श्रीमद्भगवद्गीता।

गीता की भूमिका और समन्वय

मानव मन की तीन मुख्य प्रवृत्तियां हैं—ज्ञानात्मक (Cognition), रागात्मक (Affection) तथा संकल्पात्मक (Conception) इन्हें सरल शब्दों में Knowing, feeling, willing कह सकते हैं। इनके अनुरूप जीवन के तीन शाश्वत मूल्य हैं—सत्यं शिवं सुन्दरम्। जानने की इच्छा ज्यों-ज्यों सत्य को अधिक अच्छी रीति से जानती जाती है त्यों-त्यों जिज्ञासा की तृप्ति होती जाती है। जिज्ञासा की पूर्ण तृप्ति पूर्ण सत्य को जानकर ही होती है। रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य पश्चिमी विचारकों ने सुन्दरम् को माना है। सुन्दर वस्तु के प्रति राग-अनुराग स्वाभाविक रूप से होता है। भारतीय विचारकों ने रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य भक्ति को माना है क्योंकि सबसे महान् के प्रति सबसे पवित्र एवं पूर्ण निःस्वार्थ अनुराग का नाम ही भक्ति है। बहिरंग सौन्दर्य, केवल शरीर का मांसल सौन्दर्य, उसके रूप-रंग, नैन-नक्श एवं अंग-प्रत्यंगों के लावण्य एवं मोहकता तक सीमित है। इसका वर्णन साहित्य में शृंगाररस के रूप में किया जाता है। तथा मांसल सौन्दर्य का संयमहीन आकर्षण मनुष्य को पथभ्रष्ट करके व्यभिचारी भी बना देता है। रागात्मक प्रवृत्ति का लक्ष्य है सौन्दर्य अर्थात् जीवन ऐसा सुन्दर बन जाए अथवा ऐसे परम सौन्दर्य की उपलब्धि हो जाए कि तन, मन, धन, प्राण निछावर हो जाए और इस जीवन समर्पण में परमानन्द की प्राप्ति हो जाए। बहिरंग सौन्दर्य का उपासक सौन्दर्य खोजते-खोजते अपने जीवन को इतना असुन्दर, कुरूप एवं कुत्सित बना लेता है कि वह काम का क्षुद्र कीड़ा भर बनकर रह जाता है।

बहिरंग सौन्दर्य के अतिरिक्त एक आन्तरिक सौन्दर्य है जो मनुष्य के मन को सौम्य, बुद्धि को पुष्ट, चित्त को सन्तुष्ट, अहम् को निर्मल एवं आत्मा के आनन्द को सम्पुष्ट बना देता है। जिसका तन सुन्दर और मन मैला है, जिसका अंग-प्रत्यंग मोहक और हृदय कुटिल है ऐसे व्यक्ति को सुन्दर कहना सौन्दर्य का अपमान ही होगा। इस प्रकार जो हृदय का सुन्दर है वही सच्चा भक्त हो सकता है। भक्ति हृदय की सुन्दर फुलवारी के अनुपम भाव-पुष्पों का विश्वमंगलकारी आध्यात्मिक पराग है।

मानव की संकल्पात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य शिवम् अर्थात् कल्याण (goodness) है। संकल्प कर्म का बीज है और कर्म संकल्प का पादप (पौधा) है। संकल्परूपी बीज सूक्ष्म होने से प्रायः अदृश्य रहता है किन्तु उसी सूक्ष्म बीज से प्रकट होने वाला कर्मरूपी वृक्ष प्रकट एवं प्रत्यक्ष होता है। संकल्प कर्म की मानसिक अवस्था है और कर्म संकल्प का भौतिक एवं शारीरिक संस्करण है।

इन तीन जीवन-मूल्यों का अध्ययन करने के लिए दर्शन के निम्नलिखित विषय हैं—

सत्य के अध्ययन के लिए तर्कशास्त्र और तत्त्वज्ञान है। तर्कशास्त्र वाक्य या प्रमेय की तर्कशुद्धता, उसके औचित्य की परख करता है। तत्त्वज्ञान चरम-परम सत्य की खोज करता है। सुन्दर के अध्ययन के लिए यूनानी दर्शन में सौन्दर्यशास्त्र Asthetic नाम का विषय है। भारत में सौन्दर्यशास्त्र का साहित्य एवं कला के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है। किन्तु हृदय के सौन्दर्य (भक्ति) का अध्ययन भक्तियोग के अन्तर्गत किया जाता है। पश्चिम में धर्म के अध्ययन को Theology कहते हैं और बाइबिल में जो ईश्वर को प्रेम तत्त्व के रूप में वर्णित किया गया है वह वास्तव में भक्ति तत्त्व का ही दूसरा नाम है। किन्तु जहां भारत में भक्तियोग के औचित्य-अनौचित्य पर खुले मस्तिष्क से दार्शनिक मीमांसा की जाती है, वहां पश्चिमी ईसाई जगत् में ईश्वर प्रेम को अंधविश्वास के रूप में मानने के लिए आग्रह है।

कल्याण या goodness के मूल्य का अध्ययन करने के लिए नीतिशास्त्र (Ethics) का विषय है। भारत में नीति के स्वतंत्र ग्रंथ भी बहुत हैं। शुक्र नीति, विदुर नीति, चाणक्य नीति आदि। किन्तु बहुलांश में नीतिशास्त्र को धर्मशास्त्र के साथ उसके अविभाज्य अंग के रूप में ही माना गया है। अतः भारत में जो धर्मसम्मत है वही नैतिक है और जो अनैतिक है वह धर्म दृष्टि से पाप है।

इन तीनों जीवनमूल्यों के अनुरूप ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग। जीव सीमित चेतना वाला है। वह परम चैतन्य को प्राप्त करना चाहता है। व्यक्तिगत चेतना को परम चेतना तक ले जाने के लिए मनुष्य के पास चेतना के अतिरिक्त और कोई सीढ़ी नहीं है। यदि उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति प्रबल है तो उसे चरम परम सत्य की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। हम सब कुछ न कुछ जानते हैं तथा जानने की जिज्ञासा सदा लिए रहते हैं। किन्तु बहुत कुछ जानकर भी हम ज्ञानी नहीं कहलाते क्योंकि हमने चरम परम सत्य को नहीं जाना। यदि हमारी जानने की धुन तब तक संतुष्ट न होवे जब तक परम सत्य की उपलब्धि न हो जाए—तब हमारी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति ही हमें ज्ञानयोग का साधक

बना देगी। ज्ञानात्मक प्रवृत्ति सबमें है। किसी में प्रबल, किसी में सामान्य। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—जानना है तो पूर्ण को जानो। यही ज्ञानयोग है।

इसी प्रकार सुख-दुःख मानने की प्रवृत्ति सबमें है किन्तु हम संसार की नश्वर वस्तुओं के लिए सुख-दुःख भोगते हुए जीवन व्यर्थ गंवाते चले जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं सुख-दुःख का अनुभव करना है। अपना हर्ष-शोक, अपना संयोग-वियोग, अपने हृदय का सब भाव पूर्ण के लिए समर्पित कर दो। उसी के वियोग में आंसू बहाओ। उसी की मिलन इच्छा के लिए व्याकुल बनो तथा उसी के संयोग में आनन्द के गीत गाओ। उसी के साथ अपना आध्यात्मिक परिणय कर लो। यह है भक्तियोग।

प्रत्येक जीव कुछ-न-कुछ संकल्प तथा संकल्पजनित कर्म करता ही रहता है। बिना कर्म के वह क्षणभर टिक ही नहीं सकता। भगवान् कहते हैं अपने समस्त कर्म और कर्मों के संकल्प पूर्ण के लिए समर्पित करो। मनुष्य नश्वर जीवों (मित्रों, पुत्रों, सम्बन्धियों, परिचितों, शत्रुओं आदि) के लिए कर्म करता रहता है। ये कर्म जिनके लिए किए जाते हैं, वे मर्त्य हैं। कर्म का कर्ता भी मर्त्य है और जिस उद्देश्य या फल-प्राप्ति के लिए कर्म किया जाता है वह भी नश्वर है। अतः काल का एक तमाचा लगते ही कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान आदि का सारा महल चूर-चूर हो जाता है। किन्तु कर्म का सूक्ष्म बंधन जीव के गले की फांसी बनकर अगले जन्मों में नचाता रहता है। यदि हम अपने कर्मों को पूर्ण के लिए समर्पित कर दें तो कर्ता, कर्म सब धन्य हो जाएं और कर्म भी मुक्ति का साधक बन जाए।

चित्त की तीन प्रमुख वृत्तियां या प्रवृत्तियां हैं—ज्ञानात्मक, रागात्मक एवं संकल्पात्मक।

यदि चित्त की इन वृत्तियों को भगवान् से जोड़ दें तब भी मोक्ष हो जाएगा और यदि चित्त की वृत्तियों को रोक कर चित्त को ही परम सत्य के चिन्तन, ध्यान एवं समाधि में लय कर दें तो भी परमेश्वर की प्राप्ति हो जाएगी। यह योग मार्ग है या राजयोग (पातंजलयोग) है।

राजयोग	चिदाभास को चिदाकाश में लय करना समाधि है।
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः	(योग मार्ग)
चित् (चैतन्य)	चित्त को चित् में लय करना योग
(चित्) चित्त	(मन का चिन्तन करने वाला रूप)

↓

ज्ञानात्मक (ज्ञानयोग)   रागात्मक (भक्तियोग)   संकल्पात्मक (कर्मयोग)

चित्त-वृत्तियों को रोकने के दो प्रकार हो सकते हैं—

(क) चित्त की वृत्तियों को दृढ़ संकल्प से बाहर भटकने से रोकना। जब चित्त को बाहर कुछ भोग सामग्री नहीं मिलती, तो चित्त अन्तर्मुखी होकर अपने मूल को खोजने लगता है। मानव के व्यक्तित्व का केन्द्र आत्मा चित्त को अपनी ओर खींचने लगता है। तब भी अकस्मात् एवं अनायास समाधि जैसी स्थिति आ जाती है। कई बार बाहर की वृत्तियां बंद हो जाने पर भी चित्त आत्मा से तार नहीं जोड़ पाता। उस काल में चित्त कुछ क्षणों तक बाहर के प्रति बेसुध और अन्तर में शून्य जैसी स्थिति में हो जाता है। अचानक किसी के बुलाने या छूने से हमारी यह बाहर की बेसुधी और अन्दर की शून्यता भंग होती है।

(ख) यदि मनुष्य प्रतिदिन परमेश्वर के ध्यान का अभ्यास करे तो चित्त का परमेश्वर के ध्यान में लय होते ही चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियां अपने आप रुक जाती है। इसलिए परम तत्त्व का चिन्तन चित्त की समाधि में बहुत उपयोगी है। इसी कारण एक योगी का मन पर नियंत्रण मेस्मेरिज्म Mesmerism करने वाले जादूगर की तुलना में बहुत अच्छा होता है। मन को एकाग्र करने से मन की शक्तियों का विकास होता है। जैसे व्यायाम करने से शारीरिक शक्ति का विकास होता है। प्राणायाम करने से प्राणशक्ति का विकास होता है, उसी प्रकार मन की एकाग्रता से मनःशक्ति का विकास होता है। जैसे तन का बलिष्ठ व्यक्ति बल का सदुपयोग करके अबला, अनाथ, असहायों अथवा समाज एवं राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। बल का प्रदर्शन मात्र करके समाज पर प्रभाव और अपने अहंकार को बढ़ा सकता है। और शरीर बल का दुरुपयोग करके दुर्बलों, असहायों, निराश्रितों को सता सकता है। इसी प्रकार प्राणायाम द्वारा प्राण के तार को प्राणेश्वर, परमेश्वर से जोड़कर साधक जीवन को सफल सिद्ध कर सकता है। प्राण को अधिक देर तक रोक कर अपने प्राण स्तंभन का प्रदर्शन कर सकता है। छाती से लोहे की छड़ को मोड़ना, छाती पर हाथी या मोटर चढ़ाना प्राणशक्ति के प्रदर्शन हैं। कबड्डी का खिलाड़ी भी प्राण को अधिक देर तक रोक सकता है। किन्तु वह योगी नहीं बन जाता है। प्राणशक्ति के अभ्यासी प्राण शक्ति के विचित्र प्रयोग और दुरुपयोग भी करते रहते हैं। व्रजरोली क्रिया द्वारा मूत्रेन्द्रिय से घी को चढ़ा लिया जाता है। और ऐसा विचित्र साधक जनता के सामने मूत्र विसर्जन करके यह तमाशा दिखाता है कि उसके पेशाब में दीये जलते हैं। इस तरह के खेल दिखाकर जनता को ठगना प्राण साधना का दुरुपयोग है। मन को एकाग्र करने और दृष्टि को एक बिन्दु पर केन्द्रित करने से प्रातःकाल सूर्योदय के समय लेटकर सूर्य की रश्मियों को नेत्रों द्वारा पान करने से तथा 'नाभि' के पास सूर्यचक्र पर हाथों की उँगलियां रखकर लम्बा श्वास-प्रश्वास लेने से धीरे-धीरे

नेत्रों की शक्ति, हाथ की उँगलियों के पोरों की शक्ति तथा मन की संकल्प शक्ति का विकास होने लगता है। इस विकसित संकल्प शक्ति का सदुपयोग समाज हित, राष्ट्र हित या परमेश्वर की प्राप्ति के लिए लगा देने से व्यक्ति साधना में सिद्धि को प्राप्त करता है। जैसे बालकों में ध्रुव और प्रौढ़ों में रामकृष्ण परमहंस, श्रीअरविन्द आदि।

विकसित मनःशक्ति का खेल तमाशे में प्रदर्शन करना मेस्मेरिज्म या इन्द्रजाल का खेल है। फ्रांस में डॉक्टर मेस्मर ने मन की एकाग्रता की साधना कर ऐसे खेल दिखाने प्रारम्भ किए। उन्हीं के नाम पर इसे मेस्मेरिज्म कहा जाने लगा। विकसित मनःशक्ति का प्रदर्शन पैसा कमाने और अहंकार बढ़ाने का उपाय है। विकसित मनःशक्ति का दुरुपयोग कर इससे मारन, उच्चाटन और मोहन आदि वामाचारी तंत्र के घटिया खेल हैं। सच्चा योगी निष्काम, अहंकारमुक्त होकर अपने एकाग्र एवं निर्मल मन द्वारा परब्रह्म परमेश्वर का ध्यान करता है। प्रदर्शनप्रिय जादूगर सकाम, स्वार्थयुक्त, अहंकार की भूख को लिए हुए मनःशक्ति के खेल दिखाता है। मनःशक्ति से दूसरों का नाश एवं अनिष्ट करने वाले द्वेष से दग्ध, क्रोध से बेचैन, प्रतिशोध की भावना से पीड़ित कामी, क्रोधी, मोही, अहंकारी व्यक्ति होते हैं।

ज्ञानयोग का सूत्र है Know the perfect.

भक्तियोग का सूत्र है Feel for the perfect.

कर्मयोग का सूत्र है Act for the perfect.

राजयोग का सूत्र है Meditate for the perfect.

वास्तव में ये चारों योग को सरलता से समझाने के लिए चार भिन्न-भिन्न मार्गों या साधना पथों के रूप में वर्णित किए जाते हैं और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्य गीता में इन भिन्न-भिन्न चार योगों का प्रतिपादन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में चारों योग हैं इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु आचार्यों का यह हठ कि गीता में एक उन्हीं का प्रिय योग ही है दूसरा नहीं, यह साम्प्रदायिक दुराग्रह है जो कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है। मानो पहले से किसी एक पथ को जानता है, फिर उस पथ पर और प्रदर्शक पर श्रद्धा विश्वास करता है। फिर उस पथ पर चलने का कर्म करता है और वह कर्म करते हुए मन को इधर-उधर विचलित नहीं होने देता है। तब लक्ष्य तक पहुंचता है। तो लक्ष्य और पथ को जानना ज्ञानयोग है, पथ और प्रदर्शक पर विश्वास करना भक्ति योग है, पथ पर चलना कर्मयोग है और पथ से विचलित न होने का संकल्प राजयोग है। इस प्रकार चारों योगों के समन्वय से सफलता मिलती है। कुछ आचार्य ज्ञान, भक्ति, कर्म तीनों योगों की योगत्रयी का समन्वय गीता में मानते हैं। विवेकानन्द, शिवानन्द

आदि महापुरुष ज्ञान, भक्ति, कर्म और राजयोग चारों का समन्वय मानते हैं। श्री अरविन्द, शिवानन्द एवं हरिहर गीता के योग को समन्वय योग का नाम देते हैं। बिना ज्ञान के भक्ति अंधभक्ति बनेगी, कर्म अंधे कुएं की छलांग होगा या मूर्ख का पागलपन होगा। योग की सफलता केवल स्वप्न मात्र रह जाएगी। बिना भक्ति के ज्ञान रुखा तर्क मात्र होगा, कर्म जड़ मशीनी क्रिया मात्र और योग जादूगरी का खेल। बिना कर्म के ज्ञान दंभ मात्र होगा, भक्ति वाग्विलास मात्र एवं समाज के लिए बेकार क्रिया होगी और योग थोथा शब्दजाल मात्र रह जाएगा। बिना संयम योग के ज्ञान की साधना करने वाला अज्ञान में भटक जाएगा, भक्ति पंडागिरी एवं स्वार्थपूर्ति का व्यवसाय बन जाएगी। कर्म विकर्म बन जाएगा। योगी भोगी बन जाएगा। अतः इनमें से किसी एक योग से भी लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अन्य तीनों योगों का कुछ-न-कुछ सहयोग अपेक्षित रहता है।

यदि भारत की इस एकता को ढूँढ़ना है तो वह आपको न तो विदेशी आक्रमणों के इतिहास में प्रतिबिम्बित मिलेगी न समय-समय पर हुए विभिन्न राज्यों के उद्भव में, न किसी भी महान् सम्राट् के साम्राज्य विस्तार में। वास्तव में यह एकता हमारी प्राचीन संस्कृति की एक आत्मिक आकांक्षा का फल थी, उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के महत्त्वबोध का फल थी—जो अन्य सभी मूल्यों की बजाय कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। और यह भावना विभिन्न राजनीतिक परिवर्तनों के युगों की लम्बी यात्रा के बाद आज भी यों की यों जीवन्त है।

—एस.एन. दासगुप्त

संक्षेप में सम्पूर्ण गीता

अध्याय 1

नामकरण : विषादयोग

विषय-वस्तु : युद्ध सज्जा और अर्जुन का व्यामोह।

समस्या : (क) जीवन-मृत्यु विवेक के विषय में संशय।

(ख) अपने-पराये के विषय में राग-द्वेष।

(ग) कर्तव्य और अकर्तव्य (धर्म और अधर्म) के विषय में संशय।

(घ) दो कर्तव्यों की टक्कर में किसे चुनना।

उपचार : भगवान् का मौन और मंद मुस्कान।

विशेष : धृतराष्ट्र तमोगुणी विषादी, मोही, कामी, राज्यभोग के छिन जाने का भय।

दुर्योधन : रजोगुणी, विषादी, द्वेषी, इसका रजोगुण तमोन्मुखी है। दुर्योधन के युद्ध का अन्तिम उद्देश्य दूसरे के राज्य को हड़प कर राज्यभोग करना।

अर्जुन : सात्त्विक विषाद, तीनों गुणों में श्रेष्ठ और सच्चा विषाद भी भगवान् के साथ तार जोड़ देता है।

विशेष स्मरणीय श्लोक : अर्जुन का व्यामोह 28, 30

अध्याय 2

नामकरण : सांख्ययोग

विषय-वस्तु : सांख्ययोग ज्ञान के अर्थ में—

आत्म-अनात्म विवेक

आत्मा की अमरता

स्वधर्म की महत्ता

निष्काम कर्मयोग का संकेत

आदर्श कर्मयोगी के लिए बुद्धि का संतुलन अनिवार्य। **(स्थितप्रज्ञ दर्शन)**

समस्या : क्या मैं मरूंगा या ये मरेंगे? मेरा स्वधर्म क्या है? और क्या संकट देखकर स्वधर्म का त्याग कर देना चाहिए या नहीं?

उपचार : (क) तत्त्व दृष्टि से कोई मरता नहीं, किन्तु लोक मर्यादा हेतु संसार के रंगमंच पर दुष्टों का संहार करना अनिवार्य। जैसे नाटक में किसी के मारने पर कोई मरता नहीं। नाटक के पूर्व रामजी और रावण जीवित हैं। नाटक के मंच पर राम के धनुष बाण से रावण आहत होकर छटपटाते हुए मरता है। फिर खेल समाप्त होने पर दोनों आपस में अभिवादन करते हैं और परस्पर में एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं। आहा! आपने तीर कितने सुन्दर ढंग से चलाया तो दूसरा आपने मरने का कितना सुन्दर पोज किया। जिस प्रकार नाटक में रावण नहीं मरता। उसी प्रकार संसार रूपी नाटक में दुष्टों को उनकी दुष्टाई का फल देना समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

(ख) यह तत्त्व दृष्टि प्रथम में सुपाच्य नहीं होगी।

(ग) इसका दुरुपयोग भी साधारण लोग अपनी रक्षा के लिए कर सकते हैं। या इस तत्त्व की आड़ में अत्याचार अनाचार भी कर सकते हैं। जैसे डकैत द्वारा लोगों को सताया जाना, मारा जाना और फिर अपनी रक्षा के लिए मजिस्ट्रेट के सामने यह दलील पेश करना कि कृष्ण जैसे दार्शनिक का कहना है कि तत्त्व की दृष्टि से न तो कोई मर सकता है और न ही मारा जा सकता है तब मैं हत्यारा कैसे? अतः श्रीकृष्ण ने तुरन्त बाद ही में स्वधर्म की महत्ता बताई जिससे लोक मर्यादा बनी रहे। जो हमारे पहले से निर्धारित कर्तव्य हैं वही स्वधर्म है। तब तत्त्वज्ञान के साथ-साथ स्वधर्म पालन आवश्यक है। स्वधर्म का त्याग कभी नहीं होना चाहिए। चाहे साधारण अवस्था हो। विपरीत स्थिति में तो और भी त्यागना नहीं चाहिए। स्वधर्म का पालन करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है। उसे त्यागना किसी भी हालत में नहीं। Duty supreme है।

स्वधर्म : (1) अपने-पराये के भेद के ऊपर। न्याय में सब समान।

(2) परिस्थिति निरपेक्ष। प्रत्येक परिस्थिति में स्वधर्म का पालन होना चाहिए।

यदि जंगल में ब्रह्मज्ञान वरेण्य है तो युद्ध में भी लागू होना चाहिए। शान्ति में और क्रान्ति में यानी सब स्थितियों में।

(3) धर्म व्यक्तिगत, कुलतंत्र, जातिगत इच्छा-अनिच्छा से ऊपर है।

(4) **धर्म :** अच्छे-बुरे फल, अनुकूल-प्रतिकूल परिणाम से मुक्त है। अच्छे कर्म द्वारा प्रतिकूल परिणाम भी मिले (भगतसिंह को फांसी भी मिले) तो वरेण्य है, बुरे कर्म द्वारा यदि अनुकूल परिणाम मिले (Black Market द्वारा धन) तो भी बुरा। इसलिए स्वधर्म पालन निष्काम कर्मयोग की भावना से होना चाहिए।

Dharm—'Duty' should not be at the mercy of—

(1) Circumstances

(2) Personal likes or dislikes

(3) Favours and Prejudice (राग-द्वेष)

(4) Kinsman and Aliens (अपना-पराया)

(5) Favourable or unfavorable fruit of consequence (Kant).

Moral law is categoricaly imperative

नैतिक नियम स्पष्ट रूप से पात्र, परिस्थिति, देश-काल निरपेक्ष आदेश है। (कान्ट)

Imperative—अनिवार्य आदेश (not optional)

Categorical स्पष्ट रूप से परिस्थिति निरपेक्ष (not conditional)

विशेष : द्वितीय अध्याय गीता भवन की नींव है। आगे जितने भी उपदेश आने वाले हैं उनका संकेत दे दिया गया है।

(1) जीवन शास्त्र—इसमें जीवन शास्त्र भी बताया गया है। जैसे आत्मा की अमरता।

(2) जीवन की कला—इसमें जीवन की कला भी बताई गई है। जैसे, समभाव, दुःख-सुख, लाभ-हानि में समभाव। इसी को समत्वयोग भी कहते हैं।

(3) स्वधर्म की निष्काम साधना।

(4) जीवन के शास्त्र और कला का समन्वय : अथवा सांख्ययोग और कर्मयोग का समन्वय भी बताया गया है। (स्थितप्रज्ञ दर्शन)।

गीता से पूर्व लोग योग समाधि एकांत में बैठकर करते थे। पर श्रीकृष्ण ने गीता में जिस समाधिस्थ पुरुष का वर्णन किया है, वह चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-उठते, युद्ध-शान्ति, कोलाहल-शांत स्थान में यानी सब अवस्थाओं में बुद्धि के सम होने के कारण समाधिस्थ माना जाता है।

(5) स्थितप्रज्ञ का अन्तिम परिणाम ब्राह्मी स्थिति या ब्रह्म निर्वाण या ब्रह्म-प्राप्ति भी बता दिया गया है।

Theory—आत्मा

Practice—कर्मयोग

Technique—समभाव, स्थितप्रज्ञ

Fruit—ब्रह्म-प्राप्ति

स्मरणीय श्लोक :

अर्जुन को जीवन-मृत्यु के भ्रम और विवेक का अभाव-6

अर्जुन की शरणागति —7

सत्-असत् की कसौटी—16

आत्मा की अमरता का श्लोक—20, 22, 23

स्वधर्म की दृष्टि —30, 37, 38

सम दृष्टि, निष्काम कर्मयोग—47, 48, 49, 50

स्थितप्रज्ञ—55, 56, 59, 62, 63, 64, 65

अध्याय 3

नामकरण : कर्मयोग

विषय-वस्तु : सांख्ययोग तथा कर्मयोग रूपी दो निष्ठाएं—

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग

यज्ञ तत्त्व का निरूपण

लोक संग्रह हेतु कर्म

बड़ों के आचरण से शिक्षा

पापाचरण के दो कारण—काम एवं क्रोध।

समस्या : द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ के ब्रह्मज्ञान एवं ब्राह्मी-स्थिति को सर्वोच्च बताया गया है। यह ज्ञान मार्ग यदि श्रेष्ठ है तो युद्ध जैसे भीषण कर्म में क्यों लगूँ?

यदि मैं कर्म करूंगा तो कर्मों के चक्कर में बंध जाऊंगा (यज्ञ कर्म नहीं बांधता)।

यदि मैं कर्म करूंगा तो वस्तुओं का, विषयों का, तत्सम्बन्धी मनोभावों का, राग का, छल-कपट का, द्वेष का, वैर का, स्वार्थ का रंग मेरे चित्त पर चढ़ेगा। क्योंकि कर्म मनुष्य को रंग देता है।

(निष्काम कर्म से मन मलिन न होकर शुद्ध होता है।)

यदि मैं कर्म न करूं तो क्या हानि है? निष्काम कर्म या यज्ञार्थ कर्म ठीक है तो स्वार्थ कर्म और पाप कर्म मनुष्य करता ही क्यों है?

उपचार : यह सच है कि बुद्धि या ज्ञान कर्म से श्रेष्ठ है, किन्तु कर्म की साधना के बिना ज्ञान मिलता नहीं।

(क) आजीविका—शरीर यात्रा हेतु कर्म की आवश्यकता है अन्यथा शरीर रूपी साधन नष्ट हो जाएगा। ज्ञानेन्द्रियां मुर्झा जाएंगी। मन और बुद्धि भी क्षीण होकर बेकार हो जाएँगे और ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होगी। प्रथम में मनुष्य शरीर से लगा रहता है। फिर शरीर से ऊपर उठता है, तो इन्द्रियां, फिर इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, फिर मन से सूक्ष्म बुद्धि और अंत में आत्मज्ञान प्राप्त करता है। अगर कर्म नहीं करेंगे तो शरीर शिथिल हो जाएगा। तब शरीर को भोजन भी नहीं मिलेगा। तब ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

(ख) समाज सेवा : यज्ञ कर्म (समाज सेवा) भी बिना कर्मयोग के नहीं हो सकता। यज्ञार्थ कर्म मुक्त करता है, स्वार्थ कर्म बांधता है।

(ग) चित्त शुद्धि (संसिद्धि) निष्काम सेवा द्वारा ही सम्भव है।

(घ) कर्म ही मन को मैला करता है और कर्म के द्वारा ही चित्त शुद्ध होता है। जैसे साबुन से वस्त्र साफ किए जाते हैं पर साबुन का वस्त्र में लगा रहना भी वस्त्र में गंदगी का बने रहना है। अतः उसके झाग को भी साफ करना आवश्यक है। उसी प्रकार कर्म करके कर्म का संग, कर्तापन का अहंकार और फल की वासना धोकर निकाल देनी चाहिए।

(ङ) लोक संग्रह : समाज में मर्यादा संस्थापन के लिए, लोक शिक्षण के लिए भी कर्म अनिवार्य है। छोटे लोग बड़े को देखकर आचरण करते हैं। यदि मैं (स्वयं श्रीकृष्ण) कर्म छोड़ दूं तो मेरी देखादेखी सब लोग निकम्मे हो जाएं तो कर्तव्यों की गड़बड़ी से प्रजाओं का नाश हो जाए। इसलिए जो कर्तव्य कर्म को त्यागता है वह मानो सारी मानवता का हत्यारा बनता है। (श्लोक 22, 23, 24)

मनुष्य की कामना (काम, स्वार्थ) ही मनुष्य को पाप कर्म में प्रेरित करती है। व्यक्तिगत लाभ के लिए, लोभ के लिए, स्वार्थ के लिए, कामना के लिए किया हुआ कर्म स्वार्थ कर्म है। समष्टि के कल्याण के लिए किया हुआ कर्म यज्ञार्थ कर्म है। जब कामनापूर्ति में अनुकूल परिणाम हो तो मनुष्य का लोभ बढ़ता जाता है और वह स्वार्थ में अंधा हो जाता है।

जब कामनापूर्ति में बाधा आती है या प्रतिकूल परिस्थिति होती है तब काम अंधे क्रोध में बदल जाता है। जब कामना पूर्ति में बाधक अपने से बली होता है तो हममें भय व्याप्त हो जाता है। अतः अन्धे लोभ, अन्धे क्रोध, भय, राग-द्वेष से बचने के लिए मनुष्य को कर्म को ही निष्काम बना लेना चाहिए। कर्म रूपी सर्प का काम-रूपी विष निकाल दिया जाए तो वह कर्म मनुष्य को मारने वाला या

बांधने वाला न बनकर शंकर के समान भूषण बन जाएगा। जो कर्म छोड़ता है वह नीचे गिरता है और जो कर्म के फल को छोड़ता है वह ऊपर उठता है।

विशेष : तीसरा अध्याय गीता ज्ञान की कुंजी है। यानी सभी रहस्य यहीं से खुलने वाले हैं। यदि अर्जुन ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग की एक-दूसरे से श्रेष्ठता का प्रश्न नहीं उठाता तो गीता दूसरे अध्याय के पश्चात् समाप्त हो जाती क्योंकि भगवान् ने गीता में जो-जो मुख्य विषय प्रतिपादित किए हैं वह उन्होंने दूसरे अध्याय में बता दिया है। (1) आत्मा की अमरता (2) स्वधर्म की महत्ता (3) निष्काम कर्म, स्थितप्रज्ञ और ब्रह्म निर्वाण रूपी जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बता चुके हैं। अतः अर्जुन का फिर प्रश्न करना यह सिद्ध करता है कि वह अच्छा जिज्ञासु है। सिद्धान्त तो जान गया पर व्यवहार में क्या कठिनाई है उसके निवारण के लिए भगवान् ने 16 अध्याय और बताये।

स्मरणीय श्लोक : यज्ञ तत्त्व—7, 13, 14, 16

आचार द्वारा शिक्षा—21, 22

कर्मफल का निर्णय—23, 24

स्वधर्म महिमा—35

आत्मा की सर्वोपरिता—42

अध्याय 4

नामकरण : ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

विषय-वस्तु : (1) निष्काम कर्मयोग के उपदेश की परम्परा—ब्रह्म से सूर्य को, सूर्य से सूर्य पुत्र मनु को, मनु से मनु पुत्र इक्ष्वाकु को, उसी परम्परा में आगे जनक को, पुनः कृष्ण द्वारा अर्जुन को। 1, 2, 3, 4 श्लोक

(2) कर्म, अकर्म, विकर्म।

(3) बाह्य कर्म एवं आभ्यंतर कर्म।

समस्या : (1) हे भगवान्! यह कर्मयोग का उपदेश नया है अथवा प्राचीन परम्परा से चला आ रहा है।

(2) भगवान् कृष्ण का जन्म द्वापर का और सूर्य का जन्म सृष्टि के प्रारम्भ का है। तब उन्होंने प्रथम उपदेश सूर्य को कैसे दिया?

(3) चातुर्वर्ण्य में कर्तव्य कर्मों का भिन्न-भिन्न विभाग कैसे हुआ?

(4) कर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या जो कुछ बाहर से शरीर की क्रिया की जाती है वही है कर्म? या कर्म उससे कुछ अधिक गहन तत्त्व है?

उपचार : एवम् परम्परा प्राप्तम्। भारत में परम्परा का महत्त्व है और पश्चिम में नवीनता का। भारत में परम्परा का इतना महत्त्व है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अपने ऊपर कोई श्रेय नहीं लिया। भगवान् बुद्ध ने हिन्दू विचारधारा से भिन्न विचार व्यक्त किए पर उन्होंने भी अपने विचारों को चार आर्यसत्य कहा। अतः भारतीय मनीषी किसी भी तथ्य को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए परम्परा से सिद्ध करते हैं।

(2) अवतार सिद्धान्त—मैं इस जन्म में कृष्ण के रूप में हूं। इससे पहले कई रूपों में प्रकट हो चुका हूं। अवतार का हेतु है परित्राणाय साधुनाम् (सज्जनों की रक्षा) विनाशाय च दुष्कृताम् (दुष्टों का विनाश)। इसमें शक्ति और शील का समन्वय। शील द्वारा साधुओं की रक्षा और शक्ति द्वारा दुष्टों का नाश। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए दोनों बातें आवश्यक हैं। इसमें से एक के अभाव में समाज लड़खड़ा जाता है और समाज टिक नहीं सकता। अगर सिर्फ शील द्वारा साधुओं की रक्षा कर दी जाए और दुष्टों को छोड़ दिया जाए तो वे पुनः समय पाकर आतंक मचाने लगेंगे। अतः समाज को संतुलित ढंग से कायम रखने के लिए दोनों आवश्यक हैं।

(3) गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चारों वर्णों की व्यवस्था मैंने की है पर मैं उनसे निर्लिप्त हूं। ब्राह्मण का कार्य है ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना। मैं तुझे गीता ज्ञान का उपदेश दे रहा हूं। क्षत्रिय का काम है सत्य के लिए शस्त्र उठाना। मैं युद्ध का संचालन करके क्षत्रिय कर्म कर रहा हूं। वैश्य का कार्य है समाज की आर्थिक एवं व्यावसायिक व्यवस्था बनाए रखना। गोपालन करने से मैं वैश्य का कर्म कर रहा हूं और शूद्र का काम है समाज की सेवा जो रथ हांक कर मैं समाज की सेवा कर रहा हूं। फिर भी इन चारों कर्मों से अलिप्त हूं। अतः चारों कर्मों को करके भी मनुष्य को कर्म में असंग रहना चाहिए।

(4) कर्म का बहिरंग रूप तो शारीरिक क्रिया है उससे भ्रान्ति पैदा हो जाती है। जैसे एक सर्जन और एक डाकू दोनों छुरे द्वारा किसी व्यक्ति का पेट चीरते हैं पर दोनों की आन्तरिक भावना भिन्न-भिन्न होने के कारण दोनों का कर्म भिन्न-भिन्न माना जाएगा। बाह्य कर्म की तुलना में आन्तरिक कर्म अधिक महत्त्वपूर्ण है। तदर्थ भावसंशुद्धि अनिवार्य है। इसके लिए निम्नलिखित साधनों की अपेक्षा है—

(1) इन्द्रिय निग्रह, (2) तप (तपस्वी), (3) समत्वबुद्धि, (4) स्वाध्याय (स्वयं के विषय में अध्ययन यानी आत्मा), (5) संयम, (6) यज्ञ भावना, (7) गुरुजनों के सामने प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा, ज्ञान की प्राप्ति और ब्रह्मार्पण-बुद्धि।

विशेष : इस अध्याय में कर्म का जैसा सूक्ष्म विवेचन किया गया है वैसा अन्य अध्याय में नहीं मिलता।

कर्म : बाह्य यानी शारीरिक कर्म।

अकर्म : कर्म करते हुए कर्तापन की भावना का अभाव।

विकर्म : व्याख्याकार इसके दो अर्थ करते हैं। अधिकांश व्याख्याकार विपरीत कर्म मानते हैं। विनोबा भावे इसका अर्थ करते हैं विशेष कर्म। यह मानसिक कर्म है। इसी में भावना, इन्द्रिय निग्रह आदि सभी बातें आ जाती हैं। चौथे अध्याय का आधा भाग इसी की व्याख्या है—

जब कर्म की धारा—

मन की धारा—

श्रद्धा की धारा से जुड़ जाती है, वही विकर्म है।

बुद्धिमान् व्यक्ति वही है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है।

ब्रह्मयज्ञ में अर्पण, हवि, अग्नि, होता और ब्रह्म कर्म करने वालों द्वारा प्राप्तव्य फल सब कुछ ब्रह्म रूप हो जाता है।

यज्ञ के प्रकार : (1) देव पूजन यज्ञ, (2) ब्रह्मचर्य यज्ञ, (3) संयम यज्ञ, (4) इन्द्रिय संयम यज्ञ, (5) आत्मसंयम यज्ञ, (6) द्रव्य यज्ञ, (7) तप यज्ञ, (8) योग यज्ञ, (9) स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ, और (10) प्राणायाम यज्ञ—श्लोक 29, 30

गीता का शिक्षा दर्शन : (1) द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है।

(2) ज्ञान-प्राप्ति का उपाय प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा।

ज्ञान की सार्थकता की शर्त—श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रिय संयम।

ज्ञान की सर्वोच्च महत्ता : ज्ञान त्रिभुवन में पवित्रतम वस्तु है। आत्मज्ञान युक्त कर्ता को कर्म नहीं बांध सकता। इस तरह ज्ञानयुक्त व्यक्ति संन्यास भावना (त्याग, यज्ञ भावना) से जब कर्म करता है तभी वह सच्चा निष्काम कर्मयोगी कहलाता है। इसलिए इसे ज्ञानकर्मसंन्यास योग कहते हैं। ज्ञान युक्त कर्म करें और संन्यास युक्त फल यानी फल त्याग की भावना रखें।

हमें ज्ञान होना चाहिए—आत्मा—अनात्मा, सत्य—असत्य। करने योग्य कर्म और न करने योग्य कर्म आदि का। सिर्फ ज्ञान ही नहीं। सिर्फ ज्ञान है तो वह अधूरा है। अतः कार्यरूप देने के लिए कर्मयोगी बनना। पर जिस प्रकार बिना कर्म के ज्ञान अधूरा है उसी प्रकार बिना ज्ञान के कर्म अधूरा है। बिना ज्ञान के कर्म

अंधविश्वासी और गलत कार्यों में मनुष्य को कर्मशील बनाएगा। अतः ज्ञान और कर्म दोनों चाहिएं। यदि केवल तात्त्विक विचार हो और उसके साथ कर्म का जोड़ न रहे तो वह अकर्म हो जाता है और कर्म, क्रिया और उसका विचार न रहा तो कर्म अनेक बार विकर्म हो जाता है।

स्मरणीय श्लोक : अवतार सिद्धान्त—7, 8

कर्म, अकर्म और विकर्म—17, 18

ब्रह्म यज्ञ—24

ज्ञान यज्ञ या शिक्षा दर्शन—33, 34, 36, 37, 38, 39

अध्याय 5

नामकरण : कर्मसंन्यासयोग।

विषय-वस्तु : यह अध्याय ज्ञानकर्मसंन्यासयोग की आगे की व्याख्या करता है। अतः इसमें ज्ञान (सांख्य) और कर्मयोग (निष्काम कर्मयोग) यानी गीता के योग मार्ग का तुलनात्मक महत्त्व दर्शाया गया है और दोनों की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन करता है।

समस्या : अर्जुन पूछता है हे भगवान्! तीसरे अध्याय में आपने कर्म की अनिवार्यता बताई। (कर्म के बिना यह सृष्टि पल भर भी नहीं चल सकती)। चौथे अध्याय के प्रारम्भ में आपने कर्म की सूक्ष्म व्याख्या की। कर्म, अकर्म और विकर्म समझाया। बाह्य कर्म तथा आभ्यंतर कर्म बताया। किन्तु अध्याय के अन्त में आप धीरे-धीरे कर्म, यज्ञ कर्म, यज्ञ कर्म के प्रकार, ज्ञान यज्ञ, ज्ञान यज्ञ की महत्ता समझाते हुए अंत में ज्ञान को सर्वोपरि बताने लगे।

(1) हे भगवान्! कर्म की महत्ता बताकर फिर ज्ञान की महत्ता बताने लगे अतः कर्म और ज्ञान में कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है?

(2) अर्जुन पूछता है ये दोनों मार्ग क्या एक-दूसरे के विरोधी हैं?

(3) हे भगवान्! संसार के प्रपंच में रहते हुए और संसार का कर्म करते हुए कोई संसार के कीचड़ से कैसे बच सकता है?

(4) चौथे अध्याय में भगवान् ने बताया कि कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाला बुद्धिमान् है। किन्तु कर्म-अकर्म का सांख्य और योग से क्या सम्बन्ध है?

(5) सिद्धि अवस्था में योग एवं सांख्य दोनों बराबर हैं। किन्तु साधक अवस्था में और साधन की दृष्टि से कौन-सा महत्त्वपूर्ण है?

(6) आदर्श कर्मयोगी के बाद आदर्श संन्यासी के लक्षण बताए।

उपचार : ईश्वर-प्राप्ति के दो प्रसिद्ध मार्ग हैं। सांख्य (ज्ञान मार्ग) निवृत्ति (कर्म संन्यास मार्ग) दूसरा योग अर्थात् निष्काम कर्मयोग, प्रवृत्ति मार्ग, संसार के कर्तव्यों को निष्काम भावना से पूरा करते हुए भगवान् की प्राप्ति का मार्ग।

इन दोनों मार्गों का फल एक ही है—मोक्ष। पर निष्काम कर्मयोग अधिक सुगम एवं समाज के लिए अधिक कल्याणकारी है। श्लोक 2 व 4—आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च। अपने मोक्ष की प्राप्ति एवं जगत् के हित दोनों सध जाते हैं। मानव जीवन के दोनों उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। कार्य प्रवृत्ति का और भाव निवृत्ति का होना चाहिए। मगर प्रवृत्ति मार्ग में फंस नहीं जाना चाहिए।

जीवन क्या है?

सागर में जलभार मुखर भर देना

कुसमित पुलिनों की माया से कुछ नहीं लेना।

यदि गंगा हिमालय से निकले और सागर में मिल जाए तो गंगा से क्या लाभ या उसकी महिमा गाने वाला कौन रहेगा? गंगा को तो सागर से मिलना ही है। अतः वह सागर में तो मिले पर साथ ही साथ समाज का भी भला करे। अपने आस-पास की मिट्टी को सींच दे, उर्वर बनाए। तभी समाज में उसकी पूछ होगी और लोग उससे कुछ सीखेंगे। उसी प्रकार मानव जीवन है। मगर हां, उसे प्रवृत्ति मार्ग में फंस नहीं जाना चाहिए।

भगवान् कहते हैं—नहीं। दोनों एक-दूसरे के पूरक बल्कि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बाल बुद्धि वाले इन्हें अलग-अलग एवं विरोधी समझते हैं। ज्ञानी जानते हैं कि दोनों तत्त्व से एक ही हैं। दोनों का प्राप्तव्य लक्ष्य एक ही है। दोनों में से एक में ठीक प्रकार से स्थित हो जाने पर दोनों का ही फल मिल जाता है। हां, लोक-कल्याण में कर्मयोग अधिक महत्त्व का सिद्ध होता है।

संसार में रहे किन्तु संसार का बनकर न रहे। नौका जल में रहे किन्तु जल नौका में न आ जाए। जब हम शुद्ध कर्तव्य भावना से संसार में रहकर कर्तव्य कर्म करते हैं और कर्म का साथ-संग नहीं रखते। कर्तापन का अहंकार छोड़ देते हैं और कर्मफल की आसक्ति भी छोड़ देते हैं तब कर्म न हमें रंग सकता है न हमें अहंकारी बनाता है और न फल की आसक्ति में हमें बंदी बनाता है। तब हम जल में कमल सदृश रहते हुए सरोवर के जल या कीचड़ से कभी मलिन नहीं होते। 'जिस तरह तालाब के पानी में रहता है कमल।' (स्वामी रामतीर्थ)

संसार में रहने की वृत्ति—मन में संसार का प्रवेश नहीं होने देना। राग-द्वेष से मन में संसार का प्रवेश। स्नेह के कारण भी और वैर के कारण भी। कर्म में

बहो नहीं यानी हाय फल! हाय फल! न करें और कर्तापन का अभाव। उदाहरण के लिए अजंता के कलाकारों ने पहाड़ काटकर मूर्तियां बनायीं पर किसी ने उन पर अपना नाम अंकित नहीं किया।

कर्म और अकर्म का विषय और ज्ञान और योग का विषय दोनों आपस में बहुत घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं—

सांख्य मार्ग	**योग मार्ग**
(निवृत्ति, संन्यास) कर्म न करते हुए भी सब कर्म किये हो ऐसा भाव होना।	(निष्काम कर्मयोग) सब कर्म करके भी ऐसी अनुभूति होना जैसे मैंने कुछ किया ही न हो।
अकर्म में कर्म का दर्शन। संन्यासी की अकर्म दशा। कर्तापन का अभाव। जैसे—रामकृष्ण देव।	कर्म में अकर्म दर्शन। कर्मयोगी की अकर्म दशा। कर्तापन का अभाव। जैसे—विवेकानन्द।

संन्यास केवल अन्तिम भूमिका में सिद्ध होने योग्य है। साधन अवस्था में कर्मयोग ही सुगम और अधिक कल्याणकारी है। साधन अवस्था में कर्मयोगी बहुत उत्तम साधक माना जाता है और अधिकांश ज्ञानयोगियों का भी कर्मयोग की साधना द्वारा ज्ञान योग तक पहुंचना संभव होता है। निष्काम कर्मयोग द्वारा चित्त शुद्धि हो जाने पर ज्ञान अपने आप प्रकाशित हो उठता है। अतः सच्चा ज्ञानी निष्काम कर्मयोग को साधन रूप से अपनाता है और ज्ञानसिद्ध जीवन्मुक्त हो जाने पर भी उसे लोक संग्रह के लिए अपनाए रखता है। जैसे—गांधी चित्त शुद्धि के लिए। भगवान् मुक्त ही हैं। लोक संग्रह के लिए कर्म कर रहे हैं। प्रथम में चित्त शुद्धि और बाद में लोक संग्रह के लिए यानी कर्म अनवरत चल रहा है, छूटता नहीं।

एक आदर्श संन्यासी का लक्षण श्लोक 13-27 तक—संन्यासी की अकर्म दशा में कुछ न करते हुए भी सब कुछ हो रहा है। क्योंकि उसका अहंकार गल गया है और सर्वशक्तिमान से जुड़ गया है। उसमें कोई बहिर्भाव नहीं है। बिना कर्म के स्वाभाविक कर्म हो रहा है और कर्तापन का अभाव है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष या आत्मा निर्लिप्त द्रष्टा है। सृष्टि की सारी लीलायें तो प्रकृति ही कर रही है। इसलिए इन्द्रियां इन्द्रियों में बरत रही हैं, गुण गुणों में बरत रहे हैं और मैं केवल द्रष्टा हूं। जैसे—नाटक में रामलीला में राम पीताम्बर पहनकर, जटा लगाकर, धनुष धारण कर और रावण का मुखौटा पहने हुए एक पात्र से युद्ध करता है और उसे मारता है। नाटक की समाप्ति पर आप पर्दे के पीछे जाकर देखें तब न वहां राम और न वहां रावण है। केवल राम का पीताम्बर,

धनुष, जटा, रावण का मुखौटा, हनुमान का मुखौटा आदि पड़ा है। चिन्तन करने पर विचार आता है कि मुखौटा का मुखौटा से युद्ध होता है। वस्त्र का वस्त्र से। राग-द्वेष आदि का व्यवहार हुआ, तो सारी रामलीला वास्तव में वेशों और भेषों की, परस्पर राग-द्वेष की लीला है। इसी प्रकार सृष्टि केवल गुणों का गुणों से खेल है। पुरुष तो अकर्ता निर्लिप्त द्रष्टा मात्र है।

ब्रह्मज्ञानी समदर्शी हो जाता है। क्योंकि वह नाम-रूप को न देखकर उसके पीछे के तत्त्व का दर्शन करता है—श्लोक 18, 19। नाम-रूप को देखने वाला सुखी-दुःखी होता रहता है किन्तु तत्त्वदर्शी सुख-दुःख दोनों में समान और फिर दोनों से परे हो जाता है। योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है।

विशेष : पंचम अध्याय और द्वादश अध्याय में कुछ समानता है। पंचम अध्याय में ज्ञान और कर्म की परस्पर तुलना, समन्वय और उनकी तात्त्विक एकता दर्शायी गई है। द्वादश अध्याय में निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति की परस्पर तुलना, सम्बन्ध और तात्त्विक एकता दर्शायी गई है। जैसे—कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म छिपा है। जैसे ज्ञान रूपी फल को पाने के लिए कर्म रूपी बीज अनिवार्य है। जैसे कर्मयोग में आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्म समर्पण बुद्धि पहले से ही मिली हुई है। उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना में सगुण ब्रह्म के दिव्य गुणों का समावेश हो जाता है और सगुण ब्रह्म की भक्ति में निर्गुण ब्रह्म का तत्त्व आ ही जाता है। जैसे आर्य-समाजी—हे भगवान्! तुम दयालु हो, कृपालु हो। गुणों के बिना कोई भी वस्तु बेकार है। जो सगुण की उपासना कर रहा है वह भी तत्त्व में सर्वव्यापक एक को मानता है। मूर्ति तो एक प्रतीक के रूप में है। मूर्ति को सर्वव्यापक निराकार मानना अर्थात् सगुण और निर्गुण में कुछ भेद नहीं। श्रुति, पुराण-वेद सब यही गा रहे हैं। रामकृष्ण परमहंस देव ने एक उपमा से इसे साफ कर दिया है—वाष्प वायु रूप में दिखाई नहीं देता, निराकार। वही वृष्टि के रूप में गतिशील जल फिर वही जम कर मूर्ति रूप में साकार हो गया। ज्ञान में ब्रह्म निर्गुण, कर्म में गतिशील जल की तरह और भक्ति में ठोस यानी मूर्ति रूप।

पांचवें अ. तक गीता के मुख्य विषय की परिसमाप्ति हो जाती है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, यज्ञ तत्त्व, समत्व योग, ब्रह्म निर्वाण।

छठे अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक के इन 12 अध्यायों में निष्काम कर्मयोग की सिद्धि के लिए त्रिविध साधनों का प्रतिपादन किया गया है। अ. 6 से 12 तक सात अध्यायों में उपासना कांड का प्रतिपादन किया गया है। अ. 6 से 8 में प्रधान रूप से अव्यक्त (निराकार) की उपासना और 9 से 12 तक चारों अध्याय में प्रधान रूप से सगुण (व्यक्त) की उपासना का उपदेश है। भक्ति और कर्म का यह मेल और समन्वय बड़ा अद्‌भुत है। भक्ति की रीति से सब कर्मों को

करके संन्यासी की अकर्म दशा को पा लेना (मैंने कुछ किया ही नहीं, सब कुछ प्रभु का किया)। यह एक प्रकार की निर्गुण उपासना बन जाती है।

इसी प्रकार सत् कर्म करके योगी द्वारा अलिप्त अकर्म दशा बनाए रखना सगुणोपासना बन जाती है।

कर्म
संन्यासी की अकर्म दशा—निर्गुण उपासना
कर्मयोगी की अकर्म (अलिप्त दशा) सगुण उपासना।

इसलिए पांचवां अ. गीता में उपदेश के सिद्धान्त की दृष्टि से अन्तिम अध्याय बन जाता है। शेष तो इस सिद्धान्त की सिद्धि के लिए साधन रूप से कहे गये हैं।

स्मरणीय श्लोक : ज्ञान कर्म समुच्चय—4, 5

सम दर्शन—18, 19

अध्याय 6

नामकरण : ध्यानयोग या आत्मसंयमयोग

विषय-वस्तु : छठे अध्याय से आठवें अध्याय तक अव्यक्त अक्षरब्रह्म की उपासना का निरूपण है। अव्यक्त अक्षरब्रह्म के दो अर्थ हैं—

(क) निराकार ब्रह्म जिसका क्षरण (decay) नहीं होता। अ+क्षर।

(ख) ओंकार—एक अक्षर वाला

उस अक्षर ब्रह्म की उपासना दो प्रकार से होती है—

(1) पातंजल योग द्वारा

(2) ज्ञान योग द्वारा

गीता के छठे अध्याय में मुख्य रूप से ध्यानयोग या आत्मसंयमयोग की चर्चा है। जैसे गीता में ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, कर्मयोग और ध्यानयोग सबकी महत्ता स्वीकार की गई है। किन्तु यदि ज्ञान के प्रकाश से योगसाधना द्वारा मन के संयम से और हृदय की श्रद्धा-भक्ति से समन्वित होकर निष्काम कर्म किया जाए तो वह गीता की दृष्टि में सबसे विशेष महत्त्व का होगा।

समस्या : (1) हे भगवान्! कर्म तो रजोगुण से होता है और शान्ति सतोगुण में मिलती है। इसलिए कर्म द्वारा शान्ति कैसे मिलेगी?

(2) अच्छे कार्यकर्ता का मन किस स्थिति में रहना चाहिए?

(3) निष्काम कर्मयोगी के लिए मन की कैसी साधना चाहिए?

(4) आदर्श ध्यानयोगी या कर्मयोगी को भोजन आदि कैसे करना चाहिए?

(5) कर्मयोगी का मन शांत, एकांत और निर्मल होने पर उसे कर्म से क्या मिलता है?

(6) मन बड़ा चंचल है उसको वश में करना उतना ही कठिन है जितना तेज आंधी को मुट्ठी में बांधना।

उपचार : (1) कर्मयोग पर आरूढ़ होने के लिए मनुष्य को कर्म करना अनिवार्य है। किन्तु कर्म के बंधन एवं अशान्ति से बचने के लिए मनुष्य को धीरे-धीरे निष्कामता की ओर बढ़ना चाहिए। जब कर्मयोग पर अच्छी प्रकार से आरूढ़ हो जाता है तब मन का वेग शांत हो जाता है और कर्म स्वाभाविक रूप से अपने आप होने लगते हैं। उदाहरण के लिए साइकिल चलाना सीखने के समय मनुष्य को बहुत ध्यान लगाना पड़ता है। हैंडल पर ध्यान देने से पैडल भूल जाता है और पैडल पर ध्यान देने से ब्रेक को भूल जाता है। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करते-करते और कई बार गिरते-उठते हुए पुनः प्रयास करते-करते धीरे-धीरे साइकिल चलाना एक स्वाभाविक कर्म बन जाता है। तब साइकिल चलाते हुए दिमाग पर बोझ नहीं पड़ता। वह हंसते-खेलते, बातचीत करते, गाना गाते चलता जाता है। साइकिल अपने आप चलती जाती है।

(2) अच्छा कार्यकर्ता वही है जिसका मन अपने वश में है। मन जीते जग जीते। मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है यदि उसका मन अपने वश में हो। अन्यथा मन के बेकाबू होने पर मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है—श्लोक 5, 6, 7।

(3) (क) मन पर वशीकरण : मन हमारा सेवक है। जो हमारे वश में होना चाहिए न कि इसके विपरीत हम ही उसके गुलाम हो जाएं।

(ख) समत्व योग : मन सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, सोना-मिट्टी, मित्र-शत्रु आदि सब व्यक्तियों में, सब परिस्थितियों में सम रहे। (स्थितप्रज्ञ)

(ग) एकांत में आत्मचिन्तन।

(घ) एकाग्रता : उचित स्थान पर, उचित आसन पर मेरुदण्ड सीधा, दृष्टि सीधी एवं नासिकाग्र पर रख कर ब्रह्मचर्य पालन करते हुए दैनिक ध्यान को एकाग्र मन से करें। मन की बिखरी शक्तियों को एकाग्र करें। मन को एक बिन्दु पर एकाग्र कर लिया जाए तो अपार शक्ति पैदा हो जाती है। जैसे सूर्य की रश्मि बिखरी रहती है तो सामान्य-सी रहती है पर थोड़ी रश्मियों को इकट्ठा करें तो उसमें अग्नि स्फुलिंग पैदा हो जाता है। सामान्य व्यक्ति का मन एकाग्र की जगह बहुकाग्र बना रहता है।

(ङ) भगवान् द्वारा योगी के चित्त की उपमा दीपक की निष्कम्प शिखा के सर्वोच्च बिन्दु से की गई है जो कि बहुत सूक्ष्म होती है। उस पर मन स्थिर कर लिया जाए तब वह योग का अधिकारी हो जाता है।

(4) युक्ताहारविहारस्य—जो व्यक्ति उचित मात्रा में उचित समय पर उचित विधि से खान-पान, विश्राम-जागरण आदि समस्त कर्तव्य कर्म करता है उसके लिए योग बड़ा सरल, दुःखों को दूर करने वाला बन जाता है। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर भगवान् बुद्ध ने अपना मध्यम मार्ग प्रतिपादित किया। (वीणा की तार न ढीली रहे कि आवाज ही न निकले और न इतनी कसी जाए कि वह टूट जाए)। इसीसे अरस्तू ने भी कहा है कि सद्गुण दो अतियों के बीच की स्वर्णिम सन्धि है।

(5) अभ्यास और वैराग्य द्वारा जब चित् शांत, एकाग्र और निर्मल हो जाता है तब वह ध्यानयोगी सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को देखता है। अथवा सब भूतों में ब्रह्म को ही देखता है। परिणामस्वरूप वह किसी का अपकार नहीं कर सकता। क्योंकि मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपना अपकार नहीं कर सकता। जब मैं सब में हूं तब किस को लूटूं, किसको ठगूं, किसका गला काटूं?

यह ठीक है कि मन बड़ा चंचल है। मन को वश में करने के दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। वैराग्य मन की भूमि के फालतू झाड़-झंखाड को साफ करने के लिए है। जिससे मन की भूमि साफ हो जाएगी और अभ्यास मन की भूमिका में नए संस्कार के बीज बोने में है।

विशेष : मन की साधना का सर्वोत्तम मार्गदर्शन करता है। अच्छे कार्यकर्ता का मन खूब अच्छा चाहिए यथा कर्म का संकल्प, पवित्रता, कर्म के भले-बुरे की पहचान, कर्म से लाभ-हानि का बोध। कर्म प्रेरक भगवान् का विचार और कर्मों को भगवान् को समर्पण करने की भावना सब कुछ एक निर्मल, एकाग्र और नियंत्रित मन पर ही अवलम्बित है।

स्मरणीय श्लोक—आत्मोद्धार—3, 5, 6

मध्यम मार्ग—16, 17

एकाग्रता ध्यानयोग—19

सर्वभूतात्म दर्शन—29, 30, 31, 32

मनोनिग्रह (मन को वश में करना)—34, 35

कल्याणकर्मी की सद्गति—40

अध्याय 7

नामकरण : ज्ञानविज्ञानयोग

विषय वस्तु : आजकल ज्ञान एवं विज्ञान शब्द प्रचलित है। किन्तु प्राचीन और वर्तमान अर्थों में अन्तर हो गया, ज्ञान का अर्थ जानना। इस ज्ञान की परम परिणति परम सत्य के ज्ञान में होती है। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। आजकल बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म विश्लेषण से प्राप्त ज्ञान के लिए विज्ञान (Science) शब्द का प्रयोग होता है। ज्ञान में अन्दर आत्मा का अध्ययन है और विज्ञान में बाहर की प्रकृति का अध्ययन है। इस अर्थ में ज्ञान और विज्ञान आत्मा एवं प्रकृति का अध्ययन माना जाता है। कुछ व्याख्याकार ज्ञान एवं विज्ञान का अर्थ सिद्धान्त और व्यवहार (Theory and practice) के अर्थ में लेते हैं। ज्ञान सिद्धान्त है और विज्ञान व्यवहार है। यदि ज्ञान को व्यवहार में नहीं उतारा जा सकता है तो वह बेकार ही रहता है। सिद्धान्त साधना में परिणत होकर ही उपयोगी बनता है।

समस्या : हे भगवान्! आपने बहुत ऊंचे ज्ञान का व्याख्यान किया है और ध्यानयोग द्वारा पहले अपने अन्तर में नारायण दर्शन और फिर सारे विश्व में नारायण दर्शन का सिद्धान्त बताया है। किन्तु इस ज्ञान को प्रत्यक्ष जगत् में व्यवहार में कैसे उतारा जाए। इसलिए पुरुष और प्रकृति का रहस्य समझाइये। सिद्धान्त और साधना का सम्बन्ध समझाइये।

(1) जीवन तत्त्व क्या है? सब भूतों का आदि-बीज क्या है?

(2) प्रकृति के ये तीन गुण सत्त्व, रज और तम हैं। ये गुण कहां से आए?

(3) हे भगवान्! प्रकृति और माया में क्या सम्बन्ध है।

(4) आपकी शरण में आने वाले भक्त कितने प्रकार के होते हैं?

(5) हे भगवान्! जो प्राणी आपको स्वरूप से नहीं जानते उनके अज्ञान का कारण क्या है?

उपचार : (क) अर्जुन! हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि के लिए प्रयास करता है और प्रयास करने वाले हजारों साधकों में कोई एक मुझे पाता है इसलिए मुझे पाने वालों में कोई लाखों में एक भाग्यवान पुरुष होता है।

(ख) मेरी प्रकृति दो प्रकार की है—

(i) अपरा प्रकृति—यह बाह्य प्रकृति है। यह जड़ प्रकृति है। इसके आठ अंग हैं। पंच तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश और तीन अन्दर की इन्द्रियां—मन, बुद्धि और अहंकार। यह सारा जगत् मेरी इच्छानुसार मेरी अष्टधा बाह्य प्रकृति या अपरा प्रकृति से बना है।

(ii) परा प्रकृति मेरे अन्दर की प्रकृति या चेतन प्रकृति है जो सारे जगत् को धारण कर रही है।

ईश्वर की दो प्रकृति है। उसी प्रकार मनुष्य में भी दो प्रकृति है। जब परस्पर में दो व्यक्तियों के कुशल मंगल पूछने पर—कि कहो, कैसी रही? तब वह प्रथम में बाह्य प्रकृति के विषय में बतलाता है। आज बूंदाबांदी हुई, आकाश गीला है, धरती भी गीली है। तब दूसरा व्यक्ति कहता है नहीं भाई, अपनी प्रकृति (विषय में) के बारे में बताओ। तो कहता है मैं आनन्द में हूं। अतः मनुष्य में भी दो प्रकृति हैं—बाह्य प्रकृति और आन्तरिक प्रकृति।

जब मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति (मनःस्थिति) सबल या सुदृढ़ रहती है तब बाह्य प्रकृति ठीक नहीं रहने पर भी बाह्य प्रकृति उसकी मनःस्थिति को बिगाड़ नहीं सकती और न ही कर्तव्यच्युत ही कर सकती है। वरन् परिस्थिति जितनी विपरीत रहती है वह उतने ही उत्साह से अपने कर्तव्यपथ पर अग्रसर होता है। किसी शायर ने कहा है—

तन की क्षुधा मन के इरादों को गिरा सकती नहीं
मन हो मजबूत तो शर्मसार बना सकती नहीं
घास की रोटी खाने वाले प्रताप और तुलसी को
भूख हरगिज गद्दार बना सकती नहीं।

पर जब मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति अच्छी सुदृढ़ नहीं रहती है तब बाह्य प्रकृति अच्छी होते हुए भी उसे खराब लगती है यानी बाह्य प्रकृति आन्तरिक प्रकृति के अनुसार ढल जाती है।

रात्रि की चांदनी की छटा उसे मनोरम न लगकर व्यथा देने वाली लगती है। उसे लगेगा कि चाँद मानो शोक से पीला पड़ गया है। तारे उसके बिखरे हुए अश्रुबिन्दु हैं और काली रात्रि (काला महाकाश) उसके बिखरे हुए बाल हैं। मनुष्य के अन्दर की प्रकृति ठीक नहीं तो मनुष्य दुर्बल सिंह हो जाता है—

तन की हवस मन को गुनहगार बना देती है
बांध के बांघ को शर्मसार बना देती है
भूखे पेट को त्याग सिखाने वालो!
भूख मनुष्य को गद्दार बना देती है।

इस तरह दो प्रकार की प्रकृति है—आन्तरिक और बाह्य। दोनों ईश्वर के अधीन यानी ईश्वर की दो दासियां हैं (1) जड़ और (2) चेतन। ईश्वर तो द्रष्टा रहता है।

जड़ प्रकृति चेतना के अभाव में कुछ नहीं कर सकती। जड़ में से चेतना निकाल दी जाए तो जड़ निष्क्रिय है (मुर्दा है)। अगर प्रताप से चेतना निकाल दी जाए तो प्रताप में कुछ बचता है? उसका सम्पूर्ण शौर्य व साहस समाप्त। उसे सम्मानित किया जाए या लांछित किया जाए तो भी उस पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं अतः चेतना के अभाव में जड़ व्यर्थ है। अतः ज्ञान से विज्ञान हो रहा है। हो रहा है विज्ञान में पर हो रहा है ज्ञान से। वैज्ञानिकों में आत्म चेतना है तभी तो विज्ञान की ओर अग्रसर हैं। यही ज्ञान-विज्ञान का सम्बन्ध है।

(ग) मैं ही सारे जगत् का प्रभव और प्रलय हूं। मेरे में सब कुछ इस प्रकार गूंथा हुआ है जैसे कि माला में सूत के मनके गूंथे हुए हैं। सूत की माला में सूत के मनके गूंथे हुए हैं। अगर सूत की माला से सूत ही निकाल दी जाए तो कुछ नहीं बचता। उसी प्रकार सृष्टि में से ईश्वर को निकाल दिया जाए तो सृष्टि ही नहीं बचेगी—

(2) जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु। 7/9, गीता
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। 7/10, गीता

(3) ये सब गुण मेरी प्रकृति के ही हैं। प्रकृति मेरी ही शक्ति है इसलिए सब मेरे ही गुण हैं। पर चमत्कार ये है ना यह तीनों गुण मुझमें है और न मैं उनमें बंधा हूं। जैसे दस मकानों का मालिक हूं, तो क्या दस मकान मुझ में (यानी मेरे अन्दर) हैं और क्या मैं 10 मकानों में बंधा हुआ हूं? यानी क्या दस मकानों के अन्दर मैं हूं और क्या मैं यहीं तक सीमित हूं।

अगर ईश्वर में गुण रहे तो ईश्वर जीव हो जाएगा। क्योंकि गुण जीव में है। और अगर ईश्वर सृष्टि में बंध जाते हैं तो प्रभु की प्रभुता ही नहीं रहेगी, यानी मकान मालिक की मिल्कियत ही समाप्त हो जाएगी।

(4) अष्टधा प्रकृति अपने तीनों गुणों से जो अनेकानेक प्रकार के व्यक्तियों और वस्तुओं की रचना करती हैं यही प्रकृति का प्रपंच है। इसमें भूल जाने का ही नाम माया है। इस माया प्रपंच से निकलना बहुत कठिन है। किन्तु जो प्रकृति के स्वामी मुझ परमेश्वर की शरण में आ जाते हैं वे माया का समुद्र पार कर जाते हैं।

जादूगरी अन्य लोगों को भ्रम में डालती है, किन्तु स्वयं जादूगर को नहीं। जो जादू का रहस्य जान ले या स्वयं जादूगर बन जाए उसे जादू से ठगा नहीं जा सकता।

(5) चार प्रकार के भक्त मेरी शरण में आते हैं।

(क) धर्मात्मा (अर्थार्थी)—युधिष्ठिर

(ख) आर्त (दुःखी)—द्रौपदी

(ग) जिज्ञासु—नचिकेता

(घ) ज्ञानी—याज्ञवल्क्य

भक्तों को तीन कोटि में बांटा जा सकता है—(1) सकाम भक्ति वाले—कुछ लोग समाजसेवा इसलिए करते हैं ताकि समाज में मान मिले। इस प्रकार से कुछ समाजसेवा तो हो जाती है।

फल के लिए भी शुभ कर्म करना शुभ ही है। प्रारम्भ में प्रसाद के लालच में बच्चे मन्दिर जाते हैं। धीरे-धीरे वे लालच भुला करके श्रद्धा से जाने लगते हैं। बच्चा प्रारम्भ में पुरस्कार या शाबासी के लिए अच्छा काम करता है। बाद में हो सकता है उसे अच्छाई से इतना प्रेम हो जाए कि वह बिना पुरस्कार या प्रतिष्ठा के शुभ कर्म करने लगे। इसलिए प्रारम्भ में या बाल बुद्धि वाले व्यक्ति का सकाम होना बुरा नहीं है। किन्तु सदा स्वार्थी बना रहना अभीष्ट नहीं।

(2) निष्काम किन्तु एकांगी भक्ति करने वाले—ये तीन प्रकार के होते हैं—अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु। शुभ कर्म करके भगवान् से सुख-सौख्य मांगना। व्रत-अनुष्ठान करके भगवान् से संकट निवारण के लिए प्रार्थना करना। यज्ञ करके पुत्र मांगना। भगवान् के सामने शरणागत होकर ज्ञान मांगना। ये सब सकाम और निष्काम के बीच की स्थिति है। इसे एकांगी निष्काम कहा जाता है। जैसे जीजाबाई का धर्म और राष्ट्र की रक्षार्थ हेतु पुत्र मांगना।

(3) पूर्ण निष्काम—भक्त ज्ञानी होता है। वह भगवान् के स्वरूप को जानकर भगवान् के प्रति भक्ति कर रहा है। किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा के लिए नहीं। भगवान् कहते हैं ज्ञानी तो मेरा अपना स्वरूप ही है। वह सब ओर केवल वासुदेव का ही दर्शन करता है।

इच्छा-द्वेष (राग-द्वेष) के कारण सुख और दुःख, अपने-पराये, मित्र-शत्रु आदि के द्वन्द्व पैदा होते हैं। उन द्वंद्वों में मनुष्य को मोह पड़ जाता है। अर्थात् राग-द्वेष से पैदा हुए द्वंद्व मनुष्य के मन को अंधे छल अथवा अंधे बल से अपनी ओर खींच लेते हैं। इस तरह बुद्धि पर जो मोह रूपी पर्दा पड़ा रह जाता है उसी का नाम अज्ञान है।

विशेष : प्रकृति और पुरुष का विवेचन भारतीय दर्शन का आधारभूत प्रश्न है। महाभारत काल में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका आख्यान ज्ञान-विज्ञान के रूप में किया है। महर्षि कपिल ने सांख्य दर्शन में उसको पुरुष और प्रकृति के रूप में समझाया है। जहां सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति दो तत्त्व माने जाते हैं। वहां गीता और वेदान्त में अधिकांशतः प्रकृति को पुरुष की ही शक्ति, पुरुष के अधीन मानकर उसकी व्याख्या की गई है। इसलिए अन्तिम तत्त्व ब्रह्म ही बच जाता है।

स्मरणीय श्लोक—परा अपरा प्रकृति—4, 5

सृष्टि (सनातन बीज)—6, 10

माया से पार जाना—14

चार प्रकार के भक्त —16

अध्याय 8

नामकरण : अक्षरब्रह्मयोग

विषय-वस्तु : आठवें अध्याय में निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन है।

समस्या : (1) हे भगवान्! ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? आपने आत्मा की चर्चा, ब्रह्म की चर्चा और फिर कर्म की चर्चा की। इनमें परस्पर में सम्बन्ध क्या है?

(2) अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ क्या हैं? जिनकी आपने सातवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में चर्चा की।

(3) यदि आप जीवन में अधियज्ञ रूप हैं और मरणोत्तर मोक्ष में अक्षरब्रह्म हैं। तब मानव का जीवन में आपके प्रति क्या करना कर्तव्य है और मरते समय क्या करना उसका कर्तव्य है?

(4) यदि अन्तिम स्मरण से ही मोक्ष मिलता है तो जीवन भर स्मरण करने और कर्म करने की क्या आवश्यकता है?

(5) यदि प्रभु का चिन्तन ही कर्तव्य है तो कर्म की क्या आवश्यकता है?

(6) अव्यक्त अक्षरब्रह्म का उपासक ध्यानयोगी अन्तिम समय में प्राण को कैसे छोड़ता है?

(7) मुक्त होने पर उसे क्या स्थिति प्राप्त होती है?

(8) भूलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्ति कैसे माने जाएं?

(9) योगी की मोक्ष गति और पुण्य गति में क्या अन्तर है?

उपचार : परम अक्षर ही ब्रह्म है। अपना आत्मभाव ही अध्यात्म है। भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला त्याग (यज्ञ) ही कर्म है।

(1) भाव = अस्तित्व, सत्ता, स्थायित्व, कल्याण।

अभाव = नाश, कमी, सत्तालोप।

जीवात्मा — (मोक्ष में) अक्षरब्रह्म
— (विश्व कल्याण में) यज्ञ कर्म

आत्मा शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर ले तो वही ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं, कर्म तो जगत् के लिए है। अतः ब्रह्म का भाव रखते हुए जगत् हिताय से मोक्ष की प्राप्ति भी और जगत् का हित भी अभीष्ट है।

(2) (क) उत्पत्ति और विनाश वाले सब भौतिक पदार्थ अधिभूत कहलाते हैं (क्षर भाव)।

(ख) अधिदेव हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा का नाम है। ये उन देवी शक्तियों के नाम हैं जो प्रकृति का संचालन करती हैं। जिन्हें देवता नाम से पुकारा जाता है। जैसे—इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, सूर्य, चन्द्र। ये अधिभूत को वश में रखते हैं और उसे संचालित करते हैं।

(ग) सब जीवों का पालन करने वाला, सबके देह में विष्णु रूप से स्थित अधियज्ञ मैं ही हूं।

अधि—उपसर्ग—अधीन या नीचे।

अधियज्ञ—वह यज्ञ तत्त्व (स्वयं ईश्वर ही) जिसके अधीन सारा विश्व है।

ब्रह्माण्ड में भी यज्ञ हो रहा है और मनुष्य के शरीर में भी यज्ञ चल रहा है। इसी से सृष्टि चल रही है।

(3) अन्त मति सो गति। अंतकाल में जो मुझे स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है वह मुझे ही प्राप्त होता है।

(4) मनुष्य जीवनभर जो चिन्तन करता रहता है अन्तिम समय में उसी का ध्यान उसे आता है। मनुष्य को इसलिए जीवनभर पवित्र भाव से भगवान् का चिन्तन करना चाहिए ताकि अन्तिम घड़ी में उसे भगवान् का ध्यान आवे। यदि जीवनभर क्षर के व्यवहार और ध्यान में लगा रहा तो अन्तिम समय में क्षर का ही ध्यान आएगा? यदि अक्षरब्रह्म की सतत साधना चलती रही तो अन्त समय अक्षरब्रह्म का ध्यान आएगा। जीवनभर की साधना (व्रत, नियम, अनुष्ठान, जप, ध्यान, यज्ञ, शुभ कर्म, स्वाध्याय-सत्संग) सब इसलिए की जाती है ताकि मन निरन्तर प्रभु के रंग में रंगा रहे। और जीवन की अन्तिम घड़ी मीठी हो जाए। मृत्यु जीवन की अन्तिम परीक्षा है। यदि मनुष्य प्रारम्भिक परीक्षाओं में पास होता गया और अन्तिम परीक्षा में फेल हो गया तो बड़े घाटे का सौदा होगा।

(5) **तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।** 8/7, गीता

हे अर्जुन! तू सब कालों में मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध कर (कर्तव्य कर्म, संघर्ष कर्म), करता जा।

कर से कर्म करो विधि नाना
मन राखो जहां कृपा निधाना। (तुलसी)

इस प्रकार सतत स्मरण के साथ कर्तव्य कर्म पालन का मेल बिठा लेने से निम्नलिखित लाभ हैं—

(क) स्मरण और सेवा साथ-साथ चलेगी। न तो नारायण का स्मरण छूटेगा और न नारायण की सेवा।

(ख) अपनी मुक्ति और जगत् का भला, दोनों पूरे हो जाएंगे।

(ग) ब्रह्मतेज एवं क्षात्रतेज, शक्ति एवं शील, बल एवं बुद्धि, कर्म एवं धर्म, यज्ञ एवं युद्ध, दीन-दुनिया, इहलोक-परलोक, जगत्-जगत्पति दोनों का समन्वय हो जाएगा।

(घ) बिना प्रभु स्मरण के युद्ध अत्याचार बन जाएगा। बिना शील के शक्ति आततायी हो जाएगी। बिना शक्ति के शील दुर्बल हो जाता है। बिना कर्तव्य पालन के उपासना जीवन को एकांगी एवं असफल बना देती है। इसलिए इसे निरन्तर स्मरण करते हुए कर्तव्य करते रहना चाहिए।

(ङ) जब प्रभु का स्मरण करते हुए कर्तव्य करेंगे तो कर्तव्यपथ से विचलित नहीं होंगे। तब हम प्रभु के दिव्य न्याय के यंत्र बन जाएंगे। प्रभु की इच्छानुसार कर्म करेंगे और हमारे कर्म में सर्वशक्तिमान प्रभु की अलौकिक शक्ति भी आ जाएगी।

(च) जीवन में कर्तव्य पालन से विश्व कल्याण में सहायक होंगे और प्रभु का स्मरण करते-करते शरीर छूट जाएगा तो मोक्ष प्राप्त होगा। यह गीता का सबसे बड़ा उपदेश माना जाता है।

(6) वह (ध्यानयोगी) योगबल से चित्त को भृकुटि के मध्य में स्थापन करके ओमकार स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करता हुआ प्राण छोड़ता है और मुक्त हो जाता है।

(7) भूलोक से ब्रह्मलोक तक सब लोक पुनरावृत्ति ही हैं। किन्तु मुझे प्राप्त करने के बाद जीव का पुनर्जन्म नहीं होता।

(8) मनुष्यों के एक हजार चतुर्युग (1000 सत्य, 1000 द्वापर, 1000 त्रेता और 1000 कलियुग) अर्थात् चार हजार युग बीतने पर ब्रह्माजी का एक दिन का समय पूरा होता है। इसी प्रकार 4000 (हजार) युग और बीतने पर एक रात्रि का काल पूरा होता है। इस प्रकार मनुष्यों के आठ हजार युग बीत जाने पर ब्रह्माजी का एक दिन-रात का काल पूरा होता है। इसी को 365 दिन से गुणा करने पर एक वर्ष और पुनः 100 से गुणा करने पर पूर्ण आयु। इस प्रकार महाप्रलय में ब्रह्माजी भी बदल जाते हैं। इसलिए चींटी से ब्रह्माजी तक पुनरावृत्ति है। किन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर जीव स्वयं ब्रह्म ही बन जाता है। इसलिए वह पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होता है।

(9) (क) जब योगी सकाम भावना से या एकांगी भावना से पुण्य कर्म करता है तब वह मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाकर स्वर्ग आदि सुख भोगता है और

पुण्य क्षीण होने पर पुन-पुनः संसार में आता है। इसे दक्षिणायन मार्ग अथवा कृष्ण गति या चन्द्र गति भी कहा जाता है।

(ख) जब योगी पूर्ण निष्काम होकर शरीर छोड़ता है तब वह तेजस्वी सूर्य के समान ब्रह्मलोक में लय हो मुक्त हो जाता है। इसे उत्तरायण यात्रा या शुक्ल मार्ग या सूर्य मार्ग कहा जाता है। ऐसा योगी वेद का अध्ययन, तप, दान आदि के पुण्य फल से भी आगे बढ़कर सनातन परम पद को पाता है।

विशेष : इस अध्याय में जीवन को सतत साधना और मृत्यु को प्रभु मिलन का महापर्व बनाने की कला दर्शायी गयी है।

स्मरणीय श्लोक—

अन्त गति —5

हृदय एवं मन से प्रभु हस्ते कर्म—7

ओमकार ब्रह्म—13

पुनर्जन्म (संसार चक्र) से मुक्ति —16

कर्मयोग की सर्वोपरि श्रेष्ठता—28

अध्याय 9

नामकरण : राजविद्याराजगुह्ययोग

विषय-वस्तु : इसमें भगवान् सब विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ राजविद्या तथा सब रहस्यों में सर्वोत्तम रहस्य राजविद्या-राजगुह्य का भेद बताते हैं। सारे महाभारत के मध्य में गीता, गीता के मध्य में स्थित नवम् अध्याय गीता का मानो हृदय ही है। संत ज्ञानेश्वरजी इसी अध्याय का पाठ करते हुए समाधिस्थ हो जाते थे तथा इसी का पाठ करते हुए महासमाधि भी ली।

नवम् अध्याय से द्वादश अध्याय तक सगुण भक्ति का निरूपण है। किन्तु नवम् अध्याय में ज्ञान, भक्ति एवं कर्म तीनों का सबसे बड़ा रहस्य खोल दिया है। जो परम गूढ़ है उसको भगवान् ने सर्वसुलभ बना दिया।

धर्म रूपी बीज से जो वेद रूपी वृक्ष हुआ उसका गीता सुमधुर फल है। नवम् अध्याय में वेद के बंद कपाट खोलकर उसका रहस्य सरल ढंग से प्रकट कर दिया गया है।

समस्या : (क) हे भगवान्! आप व्यक्त रूप से श्रीकृष्ण हैं और आठवें अध्याय में आप अव्यक्त की उपासना में अपने को अव्यक्त अक्षरब्रह्म बताते हैं।

(ख) आपका जगत् से क्या सम्बन्ध है और कैसा सम्बन्ध है? जगत् किसने

बनाया, कौन सृष्टा है, कौन व्याप्त है? क्या सृष्टा सृष्टि में है या सृष्टि सृष्टा में है? ये रहस्य मुझे समझाइये।

(ग) आप, पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध क्या है? क्या सृष्टि प्रकृति ही करती है या आप करते हैं या आप दोनों मिलकर करते हैं?

(घ) ईश्वर की उपासना का सरलतम मार्ग क्या है? हे भगवान्! क्या आपको कुछ लोग प्रिय और अप्रिय होते हैं?

उपचार : मुझ अव्यक्त (अमूर्त) द्वारा यह सारा जगत् व्यक्त हुआ है। जैसे अदृश्य वाष्प द्वारा जल एवं बर्फ व्यक्त हो जाते हैं। वास्तव में मैं अव्यक्त ब्रह्म ही हूं। जैसे इस शरीर रूपी बिन्दु में व्यक्त हूं। उसी प्रकार इस जगत् रूपी सिन्धु में व्यक्त हूं। जिस प्रकार जल तत्त्व सत् है और बिन्दु का नाम और रूप असत् है। उसी प्रकार सिन्धु में मात्र जल तत्त्व ही सत् है और सिन्धु का नाम और रूप, दोनों असत् हैं।

सृष्टि, सृष्टा का रहस्य : मुझ अव्यक्त ब्रह्म के संकल्प से ही जगत् व्यक्त हो जाता है। मैं जगत् का पृथक् कारण न होकर जगत् का अन्तर्भूत कारण हूं। सामान्य विज्ञान में कारण को कार्य से पृथक् मानकर कहा जाता है कि कारण कार्य को पैदा करता है। जैसे बादल जल को पैदा करता है। बिजली गर्मी पैदा करती है आदि। किन्तु उच्च विज्ञान और वेदान्त की मान्यता है कि कारण कार्य में अन्तर्भूत रहता है। वह कार्य से भिन्न नहीं है। कारण ही कार्य बन जाता है। बीज ही वृक्ष बन जाता है। बर्फ ही जल बन जाता है। इसी प्रकार अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्त जगत् बन जाता है। सृष्टा ही सृष्टि बन जाता है। इसलिए सामान्य विज्ञान में पृथक् कारणवाद (Transient causality) कहा जाता है और उच्च विज्ञान में अन्तर्भूत कारणवाद (Imminent causality) कहा जाता है। (गुप्त रूप से वर्तमान, गुह्य रूप से व्याप्त सिर्फ खुलने की देरी है।)

(ग) अन्तर्भूत कारणवाद में भी बीज या कारण अपने आपको परिवर्तित करके या गला करके कार्य बनता है। जैसे बीज गलकर वृक्ष बन जाता है। बर्फ गलकर पानी बन जाता है। परब्रह्म सृष्टि का ऐसा सनातन बीज है जो असंख्य कोटि-ब्रह्माण्डों की रचना करके भी वह स्वयं नष्ट नहीं होता। इसलिए ब्रह्म अव्यक्त बीज या सनातन कारण कहा जाता है।

(घ) मैं ब्रह्म सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण, दोनों हूं। अर्थात् सृष्टि बनाने वाला भी और जिस पदार्थ से सृष्टि बनी है वह भी मैं ही हूं। द्वैतवादी मानते हैं कि पुरुष सृष्टिकर्ता निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण है। पर वेदान्त उससे आगे बढ़कर मानता है कि प्रकृति परमेश्वर की ही शक्ति है। जो परमेश्वर से प्रकट होती है। और अन्त में परमेश्वर में ही लय हो जाती है। अतः ब्रह्म सृष्टि

का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है जिसमें निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों अभिन्न है, भिन्न नहीं हैं।

(ङ) मैं सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त हूं। कोई भी लौकिक सृष्टा (इंजीनियर आदि) यंत्र या वस्तु को बनाकर अणु-अणु में व्याप्त नहीं हो सकता। कोई भी लौकिक सृष्टा वस्तु बनाकर उसके जर्रे-जर्रे में प्रवेश नहीं कर सकता। प्रभु की इस पूर्ण व्याप्ति का भेद जब खुलता है तब रहस्यदर्शी भक्त सारे विश्व में उसी का दर्शन करने लगता है—'सीयराम मय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी। साहित्य में इसी अनुभूति को रहस्यवाद कहते हैं। यह सृष्टि का सबसे बड़ा रहस्य है। इसलिए इसे राजगुह्य विद्या कहते हैं। जब यह रहस्य खुल जाता है तब सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं—

दो चार दिवस नहीं
दूर है मंजिल
अरे प्रथम रश्मि के पथ पर मैं
निकला जग के निर्जन पथ पर
मैं छोड़ चला हूं पदचिह्नों को
ग्रह और नक्षत्रों पर
निज घर जाने के हेतु
अज्ञात द्वार कितने छाने
जिस प्रिय को खोजा जीवनभर
वह बैठा था मन के भीतर।

नर में नारायण, जनता ही जनार्दन है, नारायण नर के अन्दर है, यही रहस्य है। बहिर्मुखी दृष्टि से बाहर खोजना चाहते हैं तब मिलता नहीं है पर अन्तर्मुखी दृष्टि से खोजने से मिलता है—

ढूंढता फिरता हूं मैं इकबाल अपने आपको
आप ही गोया (=मानो) मुसाफिर आप ही मंजिल मैं हूं।

(च) आठवें अध्याय तक जिस अव्यक्त ब्रह्म की उपासना बतायी गई है वही नवम् अध्याय में जन-जन में व्याप्त हो गई है। अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति ही व्यक्ति (मनुष्य) है।

(छ) भगवान् ने निराकार की उपासना के पश्चात् साकार की उपासना बताई है। जो मनुष्य पहले मन को एकाग्र करके चित्त को निर्मल करके आत्म चिन्तन द्वारा अन्तर्मुखी साधना से अपने भीतर की ब्रह्मज्योति का दर्शन कर लेगा वही जब नेत्र खोलेगा तो बाहर भी सब ओर उसे सर्वत्र सर्वव्यापी दीखेगा। पहले एकाग्र

दर्शन द्वारा अपते भीतर राम को देखने वाला जब नेत्र खोलता है तो समग्र दर्शन की अनुभूति से गाने लगता है—

सीयराम मय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

बिना एकाग्र हुए समग्र दर्शन संभव नहीं है।

(ज) सब भूत प्राणी मुझ पर अवलम्बित है किन्तु मैं उन पर अवलम्बित नहीं हूं। जैसे बिन्दु, वीचि (तरंग), फेन, बुलबुले, ज्वार-भाटा, वाष्प, बादल, वर्षा, पानी, हिमपात, नदी, नाला, तालाब, बावली, कुआं, नहर, छापड़, दरिया, महानदी, समुद्र, महासमुद्र सब कुछ जल पर अवलम्बित है। किन्तु जल उनमें से किसी पर अवलम्बित नहीं है।

(झ) मेरी योगमाया ऐसी है। सब भूत प्राणी मेरे से उत्पन्न होते हैं, मेरे पर अवलम्बित भी हैं। मैं उनके अणु-अणु में व्याप्त भी हूं किन्तु कोई भूत प्राणी ना मेरे में स्थित है और ना मेरे में व्याप्त है। सब भूतों को जन्म देने वाला और उनका पालन करने वाला, उनको आधार देने वाली मेरी आत्मा भूतों में स्थित नहीं है। मेरी सत्ता, स्फूर्ति एवं संकल्प मात्र से ही सब उत्पन्न हो रहे (श्लोक 4, 5, 6, 7) हैं। मैं उत्पन्न सबमें व्याप्त हूं, पर किसी में कैद नहीं हूं। पराधीन नहीं हो सकता हूं। सर्वनिवासी सदा अलेपा तोही संग समाहि। काहे रे वन खोजन जाय—गुरु तेगबहादुर का कथन। ब्रह्म सब में निवास करता है किन्तु अलिप्त रहता है। आत्मा भौतिक जगत् में व्याप्त होती है उसे परिचालित करती है। किन्तु भौतिक जगत् न आत्मा में व्याप्त हो सकता है और न ही उसका परिचालन कर सकता है।

आत्मा से भौतिकता की ओर संचालन क्रिया चलती है, किन्तु भौतिकता द्वारा आत्मा का संचालन नहीं हो सकता। One way traffic, किसी भी भूत की मजाल नहीं कि वह ब्रह्म में प्रवेश कर सके। खेल में मजाल नहीं कि वह खिलाड़ी को मोहित कर ले।

(ञ) सृष्टा सृष्टि में अलिप्त रूप से व्याप्त है। जिस प्रकार आकाश तत्त्व सर्वत्र व्यापक है। मठाकाश में मठ के रूप में, घटाकाश में घट के रूप में, कोटि-कोटि वस्तुओं में कोटि-कोटि भिन्न रूपों में व्याप्त है। किन्तु, आकाश न लिप्त होता है न आकाश को कोई लिप्त कर सकता है। जो मन का दुर्बल होता है, लिप्त हो जाता है। जो तन का दुर्बल है वह बंदी हो जाता है।

(4) प्रकृति-पुरुष—वास्तव में प्रकृति मेरी ही रचना शक्ति का नाम है। यह कोई मेरे से पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जैसे पूर्व अध्याय में बताया मेरी प्रकृति (शक्ति) दो प्रकार की है—

(क) परा-प्रकृति—मेरी आन्तरिक चेतन शक्ति।

(ख) अपरा प्रकृति (आठ अंगों वाली जड़ रचना करने वाली)—मेरी अध्यक्षता में मेरे संकल्पानुसार मेरे भृकुटि के संकेत मात्र से प्रकृति चराचर (जड़) जगत् को रचती है। इसलिए वास्तविक सृष्टा मैं ही हूं। क्योंकि मेरी सत्ता और स्फूर्ति से प्रकृति जगत् को रचती है और प्रत्यक्ष सृष्टा प्रकृति बन जाती है। सेनापति के आदेशानुसार सैनिक युद्ध में लड़कर विजय प्राप्त किया करते हैं।

ईश्वर उपासना का सरलतम मार्ग—भगवान् के नाम का निरन्तर संकीर्तन करना, भगवान् को नित्य नमस्कार करते हुए पूजन एक पवित्र नाम यज्ञ है जो सबके लिए सुलभ है। अन्य यज्ञों में स्त्रियों एवं शूद्रों का भले ही अधिकार नहीं हो, किन्तु नाम यज्ञ में सबका अधिकार है। मेरी अनन्य भक्ति करने से बड़े-बड़े दुराचारी भी साधु एवं सदाचारी बन जाते हैं। स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि सब मुक्त हो जाते हैं।

ईश्वर सबके लिए समान : मैं सब भूत प्राणियों में समान रूप से हूं। किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं। किन्तु जो मुझे अनन्य भक्ति से भजन करते हैं वे तो मेरे में ही निवास करते हैं और मैं उनमें निवास करता हूं। इसलिए यदि वे परमप्रिय हों, तो अचम्भा ही क्या है? क्योंकि वे मेरे आत्मरूप ही हैं और आत्मा सबको परमप्रिय होती ही है। (श्लोक 29)

प्रश्न—भक्ति में आपको क्या भेंट करें?

उत्तर—यदि कोई भक्तिपूर्वक पुष्प, फल, जल भी भेंट करता है तो मैं उसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूं। विदुर का शाक, गजेन्द्र के फूल, भीलनी के बेर और केवट के जल से तृप्त हो जाता हूं। (श्लोक 26)

प्रश्न—ज्ञान यज्ञ के द्वारा आपको कैसे पूजा जाए?

उत्तर—हे अर्जुन! यह जान लो कि मैं ही सब जीवों की गति, सबका भर्ता, प्रमुख साक्षी, निवास, शरण, सच्चा मित्र, सबका जन्म स्थान, प्रलय, मध्य का पड़ाव, सूक्ष्म भूतों का घर और सृष्टि का अव्यय बीज हूं। गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। (श्लोक 18)

इसमें ईश्वरज्ञान का सार कह दिया गया है।

प्रश्न—देवताओं, पितरों, भौतिक सम्पदाओं को पूजने वालों की क्या गति होती है?

उत्तर—भौतिक वस्तुओं का चिन्तन करने वाले जड़ता की ओर बढ़ते जाते हैं। पितरों की उपासना करने वालों में पितरों के गुण आ जाते हैं और देवताओं के उपासकों में देवताओं के गुण आ जाते हैं और मुझ ब्रह्म की उपासना करने वाले मुझे ही प्राप्त करते हैं। (श्लोक 25)

प्रश्न—सम्पूर्ण समर्पण का स्वरूप क्या है?

उत्तर—**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। 9/27, गीता

हे अर्जुन! जो कुछ खाता है, हवन करता है, देता है, लेता है, तपस्या करता है। वह सब कर्म मेरे को समर्पण कर दे।

प्रश्न—हे भगवान्! आपको निरन्तर याद करते रहें या अपने कर्म आपको भेंट करते रहें? भक्ति और कर्म में कौन-सा उत्तम है?

उत्तर—भगवान् का स्मरण करो। यदि भगवान् का स्मरण करते हुए कर्म करेंगे, तो कर्मफल फेंकना नहीं पड़ेगा। उसे भगवान् को समर्पण करना पड़ेगा। इस तरह कर्म भी उत्तम होगा और भक्ति भी। जो इन्द्रिय, मन को प्रभु प्रेम से भटकाती है उन इन्द्रियों को प्रभु को अर्पण करें। सगुण भक्त नेत्रों से भगवान् का दर्शन करता है, कान से कीर्ति को सुनता है, मुख से प्रसाद ग्रहण करता है और हाथों से पुष्पमाला बनाता है, पूजन करता है—पांव से तीर्थ-यात्रा करता है। इस प्रकार सब इन्द्रियों को भगवान् को अर्पित कर देता है। अर्पण बुद्धि से सारा जीवन प्रभुमय बन जाता है।

हे अर्जुन! जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन और उपासना करते हैं वे लोग मेरे से नित्य जुड़े रहते हैं। इसलिए उनके योगक्षेम से भरण-पोषण, रक्षा का पूरा उत्तरदायित्व मेरे कन्धों पर आ जाता है। (श्लोक 22)

प्रश्न—जो अभी तक पथ भ्रष्ट रहे हैं, दुराचारी और पापाचारी बन गए। उनके उद्धार की कोई आशा है?

उत्तर—हां, अर्जुन! मेरी शरण में आने से बड़े से बड़ा पापी भी शुद्ध होकर पुण्यात्मा बन जाता है जैसे रात के गहन अंधकार को न झाड़ू से बुहारा जा सकता है न तोप से समाप्त किया जा सकता है। करोड़ों योजन तक फैला हुआ घना अंधेरा सूर्य की प्रथम किरण के छूते ही न जाने कहां भाग जाता है। उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की ज्ञान रश्मि के स्पर्श से कोटि-कोटि जन्मों के पाप समूल भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार पापी के लिए भी पुण्यात्मा बनने का मार्ग खुला है—

Every saint has a past & every sinner has a future.

विशेष : महाभारत का हृदय गीता और गीता का हृदय नवम् अध्याय। इसमें रहस्यों का रहस्य प्रकट किया गया है कि परमेश्वर मानव से दूर नहीं है। उसके निकटतम, अपने आप के हृदय मंदिर में विराजमान है। इसमें अध्यात्म विद्या का गुप्त रहस्य प्रकट किया गया है। ज्ञान की सर्वोच्च भूमिका का दिग्दर्शन है। कर्मयोग में सर्वस्व समर्पण और भक्ति का अनन्य चिन्तन, दोनों का मधुर मेल है।

स्मरणीय श्लोक—

प्रभु की गति—18

पुनर्जन्म—21

योगक्षेमं—22

फलम् पुष्पम् फलम् तोयम्—26, 27

समर्पण, पतितों के उद्धार की उज्ज्वल आशा—30, 34

अध्याय 10

नामकरण : विभूतिचिंतनयोग

विभू—सर्वव्यापक, शक्तिशाली, महान्।

विभूता—स्वामित्व, प्रभुत्व, ऐश्वर्य, शक्ति, व्यापकता।

विभूति—शक्ति, महत्ता, प्रभुता, ऐश्वर्य, समृद्धि, प्रकाश, कौशल।

विभूति योग का अर्थ है भगवान् की शक्ति। भिन्न-भिन्न वस्तुओं एवं व्यक्तियों में प्रभु का ही प्रकाश है।

नवम् अध्याय में जिस भगवान् का स्वरूप बताया गया। आठवें अध्याय में जिसे अव्यक्त बताया गया और नवम् में उसे चराचर में व्याप्त बताया गया। उसी का विशद् विश्लेषण करने के लिए विभूतियोग बताया गया।

प्रश्न—निराकार ईश्वर (अव्यक्त ब्रह्म) व्यक्त जगत् में व्याप्त कैसे है? क्या यह मात्र कल्पना है? अथवा अंधश्रद्धा की मान्यता है। अथवा जगत् के हर पदार्थ में प्रभु की विभूति, प्रभु का सौन्दर्य, ऐश्वर्य और महत्ता का कुछ परिचय मिलता है? (संसार में बहुलता एकदम स्पष्ट है)

उत्तर—हे अर्जुन! मैं सारे जगत् का रचयिता हूं? मेरे द्वारा प्रेरित होकर ही सारा जगत् चेष्टा करता है और सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त भी हूं और तनिक विचार करने से प्रत्येक वस्तु में जो ईश्वरीय विभूति छिपी है वह प्रकाशित हो जाती है।

प्रश्न—आपकी सबसे प्रथम और प्रधान विभूति क्या है?

उत्तर—अहमात्मा गुडाकेश—श्लोक 20

हे अर्जुन! सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूं।

प्रश्न—ये भिन्न-भिन्न देवी-देवता क्या हैं?

उत्तर—सब देवता मेरी ही विभूति हैं। मैं आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में सूर्य, नक्षत्रों में चन्द्रमा, देवताओं में इन्द्र, रुद्रों में शंकर, सेनापतियों में स्कन्द हूं।

प्रजनन करने वालों में कामदेव हूं, शस्त्रधारियों में राम, हरण करने वालों में काल देवता हूं। यादवों में वासुदेव और पाण्डवों में अर्जुन हूं।

प्रश्न—शास्त्रों एवं ऋषि-मुनियों में आपकी विभूति कहां विशेष रूप से प्रकट हुई है?

उत्तर—सप्तऋषि मेरे संकल्प से पैदा हुए हैं। पुरोहितों में देवगुरु बृहस्पति हूं, महर्षियों में महर्षि भृगु हूं, मुनियों में व्यास हूं, कवियों में शुक्राचार्य। वेदों में मैं सामवेद हूं। छन्दों में गायत्री। विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूं।

प्रश्न—मनुष्यों में आपकी विभूति और असुरों में आपकी विभूति कैसे प्रकट होती है?

उत्तर—मनुष्यों में राजा, सिद्धों में कपिल मुनि (प्रथम दार्शनिक), राम, कृष्ण और अर्जुन इन मनुष्य रूपों में मेरी ही विभूति का प्रकाश है। इसके अतिरिक्त जहां-जहां भी ऐश्वर्य, कान्ति, शक्ति दिखाई दे उसे मेरे अंश से उत्पन्न हुआ जान। दैत्यों में प्रह्लाद, असुरों में विभीषण।

प्रश्न—पशु-पक्षियों में आपकी विभूति कैसे प्रकट होती है?

उत्तर—पशुओं में वनराज सिंह हूं, सात्त्विक पशुओं में गो, गऊओं में कामधेनु, हाथियों में ऐरावत हाथी, घोड़ों में उच्चैःश्रवा, पक्षी में गरुड़, सर्पों में वासुकि, नागों में अनन्तनाग, मछलियों में मगरमच्छ हूं।

प्रश्न—जड़-पदार्थों में आपकी विभूति कैसे प्रकट होती है?

उत्तर—हे अर्जुन! पर्वतों में हिमालय, सरिताओं में सागर, वृक्षों में पीपल, नदियों में गंगा, पुष्पों में कमल, अक्षरों में ॐ, गुह्यो (रहस्यों) में मौन, छलों में द्यूतक्रीड़ा।

प्रश्न—सब जीवों में आपकी विभूति कैसे व्याप्त है?

उत्तर—हे अर्जुन! मैं जीवों का जीवन, प्राणियों की चेतना, इन्द्रियों में मन, नारियों में कीर्ति, श्री, वाक् मेधा, स्मृति, धृति, क्षमा मैं हूं। वरन् सब भूतों का बीज मैं ही हूं। इस सृष्टि का ही अन्त नहीं है वरन् समस्त सृष्टि के अणु-अणु में मेरी ही विभूति छिपी हुई है। अतः मेरे विभूति कथन का अन्त कहां होगा? फिर चमत्कार यह है कि सारी सृष्टि की गणना करने पर भी मेरी विभूति का पार नहीं पाया जा सकता। क्योंकि सारी सृष्टि को मैं एक अंश मात्र से धारण किये हुए हूं। मेरे चरण धूलि के एक कण से कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड पैदा हो जाते हैं। सृष्टि की हर वस्तु, सब प्रयोजन एक ही ईश्वर में छिपा हुआ है। जिसका उद्देश्य विश्वकल्याण रूपी महायज्ञ है।

विशेष : यह योग बड़ा मधुर योग है। प्रकृति के अणु-अणु में प्रभु की विभूति का दर्शन होने से सारी सृष्टि प्रभुमय दिखाई देती है। कण-कण में भगवान् और कंकर में शंकर के दर्शन की ये पद्धति भारतीय चिन्तन की अद्‌भुत विशेषता है। विभूति के दृष्टिकोण से प्रकृति को देखने से अणु-अणु में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है और सब कुछ ब्रह्ममय बन जाता है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

जहां-जहां शक्ति, ऐश्वर्य, महत्ता है वहां-वहां ईश्वर की विभूति है ऐसा जान।

स्मरणीय श्लोक—

प्रभु ही आत्मा—20

प्रभु की विभूतियां—30, 34

अध्याय 11

नामकरण : विश्वरूपदर्शनयोग

विषय-वस्तु : नवम् अध्याय मानो एक माता के तुल्य है। वह (राजविद्या गुह्य) इस अध्याय के मानो दो पुत्र दशम् और एकादश। दशम् अध्याय में नवम् में वर्णित सर्वव्यापक विभू की विभूति का दर्शन है और एकादश में सारे विश्व में व्याप्त परमेश्वर का विश्वरूप दर्शन।

समस्या : हे भगवान्! नवम् अध्याय में आपने यह सबसे बड़ा रहस्य बताया कि परमेश्वर दूर नहीं है। वह सर्वव्यापक और निकटतम है। जब मुझे यह जिज्ञासा हुई कि सृष्टि के अनेकत्व में तथा नानाविध रूपों में एक ही परमेश्वर का प्रकाश कैसे है, तो दशम् अध्याय में आपने विभूतियोग दर्शन द्वारा दर्शाया कि जड़-चेतन में, मनुष्य-गंधर्व में, असुर, राक्षस, देव, ऋषि-मुनि, पशु-पक्षी, पर्वत, नदी, वृक्ष आदि सबमें ईश्वरीय विभूति फैली है। यह जो सर्वत्र प्रभु दर्शन आपने कराया है क्या उसका एकत्र दर्शन हो सकता है (सब में प्रभु, अब प्रभु में सब दिखाइये) सब में ईश्वर है। किसी में खुले रूप में और किसी में ढके हुए रूप में प्रभु है। अगर सब में ईश्वर नहीं है तब रत्नाकर डाकू से वाल्मीकि, तुलसी से गोस्वामी तुलसीदास, बिगड़े हुए बनिये के बच्चे से गांधी कैसे बन गए? दोनों बातें कैसे सिद्ध हो कि जगत् के हर अणु में प्रकाश है तब क्या ईश्वर में जगत् के अणु-अणु को दिखा सकते हैं।

उत्तर—हे अर्जुन! सम्पूर्ण चराचर जगत् को तू मेरे ही शरीर में एक जगह स्थित देख। पर एकत्र दर्शन बड़ा दुर्लभ एवं दुष्कर है। बचपन में माता यशोदा

को मैंने अपने मुख के भीतर ब्रह्माण्ड दिखाया तो वह विस्मित हो गई। दुर्योधन के दरबार में जब शान्तिदूत बनकर गया और उसने मुझे बंदी बनाने की धृष्टता करनी चाही तो मैंने अपनी एक भुजा में अनन्त सेनाएं दिखाकर उसे भयभीत कर दिया। हे अर्जुन! मैं तेरे प्रेम और भक्ति से प्रसन्न होकर जो विराट् रूप दिखा रहा हूं वह सबसे विलक्षण है। इसका उद्देश्य न मां को विस्मित करना है और न दुश्मन को डराना वरन् उसका उद्देश्य है अपने प्रिय जिज्ञासु भक्त को अपनी विभूति का एकत्र दर्शन कराना।

प्रश्न—यह बात तो समझ में आती है कि प्रकृति के अणु-अणु में ईश्वर है पर सब प्रकृति ईश्वर में देखकर अर्जुन चकरा जाता है। क्या साधारण दृष्टि से विश्वरूप का दर्शन हो सकता है?

उत्तर—साधारण दृष्टि से विश्व दर्शन हो सकता है पर विश्व रूप (विश्व ईश्वर में) दर्शन नहीं हो सकता। चर्म दृष्टि से अनेकता में बंटा हुआ जगत् दीखेगा। किन्तु मर्म दृष्टि से सारी अनेकता को अपने भीतर समाहित किये हुए एकता का दर्शन होता है। दृष्टियों वाला उदाहरण पृष्ठ 79-80 में देखें।

प्रश्न—हे भगवान्! आपके विराट् रूप में सब देवों को, असुरों, गंधर्वों को, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र, तारा, नदी, पर्वत, ऋषि-मुनि, महर्षि, सिद्ध सबको एक साथ देख रहा हूं। यह पहेली समझ में नहीं आती।

उत्तर—विभूति में आपको जो सृष्टि में सृष्टा का प्रकाश बताया था उसी सृष्टा में समस्त सृष्टि की एकत्र लीला भी देखो—

यह सैर अजब अनोखा कि राम मुझ में मैं राम में हूं।
जहाज दरिया में और दरिया जहाज में भी तो देखिये।
यह जिस्म किश्ती है राम दरिया कि राम मुझ में है, मैं राम में हूं।
जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है
बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहि समाया
यह तथ कहो ग्यानी (ज्ञानी)।

प्रश्न—आपके अनेक मुखों से अग्नि ज्वालाएं निकल रही हैं और आपके अनन्त फैले हुए मुखों में सभी कौरव वीर भी भस्म हो रहे हैं। यह रहस्य समझ में नहीं आता।

उत्तर—हे अर्जुन! ईश्वरीय न्याय में इनके पापों का फल मिलना प्रारम्भ हो चुका है। स्थूल दृष्टि से कर्म के फल का प्रभाव तुरन्त दिखाई नहीं देता। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से कर्म का प्रभाव कर्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है।

जैसे औषधि खाते ही उसका प्रभाव शरीर में शुरू हो जाता है, किन्तु स्थूल दृष्टि से उसका प्रभाव दिखता है जब बुखार टूट जाता है। पापियों के पाप का प्रभाव तुरन्त शुरू हो गया है यह दुनिया स्थूल दृष्टि से बाद में देखेगी। डॉक्टर को सूक्ष्म लक्षणों से स्वास्थ्य पर प्रभाव पहले ही दिख जाता है। रोगी को बाद में। दिव्य दृष्टि वालों को कर्म का प्रभाव पहले ही दीख जाता है और चर्म दृष्टि वालों को बाद में।

प्रश्न—हे भगवान्! आपने विभूतियोग में अपना प्रथम परिचय आत्मा के रूप में दिया। इस विराट्-रूप दर्शन में आपका यह भयानक रूप देखकर मैं कांप गया हूं। आप कौन हैं, मैं आश्चर्यचकित होकर पूछता हूं!

उत्तर—अर्जुन! मेरे दो रूप हैं।

(क) अन्तःप्रकृति में आत्मरूप और बाह्यप्रकृति में कालरूप। मैं आत्मरूप से अंतः पर शासन करता हूं और कालरूप से बाह्य जगत् पर।

जगत् देश-काल परिच्छिन्न है अतः देश इसको सीमित करता है और काल इसको खा जाता है। आत्मा देश-काल से परे, अकाल और अविनाशी है और भक्तों को मैं आत्मरूप से दर्शन देकर मोक्ष प्रदान करता हूं। किन्तु, अभक्तों को काल रूप से वश में रखता हूं और काल बन मृत्यु चक्कर में घुमाता हूं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिह प्रवृतः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।। 11/32, गीता

अणुबम के प्रथम आविष्कारक रॉबर्ट ओपेनहाइमर को 16 जुलाई, 1945 के दिन अणुबम के प्रथम परीक्षण के अवसर पर विस्फोट की लपलपाती हुई अग्नि-जिह्वाओं में भगवान् के विराट् रूप की अनुभूति हुई। उसी दिन से विज्ञान एवं अन्तरिक्ष शोध के कार्य को त्यागकर गीता का भक्त बन गया।

प्रश्न—हे भगवान्! मुझे यह विराट् रूप देखकर कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्या कर रहा हूं। भय, विस्मय और रोमांच से आपके इस अनन्त रूप के सामने मैं भौचक्का-सा कांप रहा हूं। प्रारम्भ में सम्बन्धियों के मोह से किंकर्तव्यविमूढ होकर कांपने लगा था और मेरे हाथ से गांडीव गिर गया था। अब मैं आपके विस्मयकारक विराट् रूप को देखकर और अपनी तुच्छता देखकर श्रद्धामिश्रित विस्मय से कांप रहा हूं। तीनों लोकों में व्याप्त विराट् रूप को देखकर मेरी तुच्छ बुद्धि चकरा गई है। मैं क्या करूं और क्या न करूं?

उत्तर—हे अर्जुन! प्रारम्भ में तू पंडितपने की बात कर रहा था, तेरे में अहम् था, सम्बन्धों के मोह (अहंकार) के ऊपर पाण्डित्य का आवरण चढ़ाकर बातें कर रहा था। तेरी क्षत्रिय प्रकृति तुम्हें अन्दर से युद्ध करने के लिए प्रेरित करती थी,

किन्तु तेरा मोह (अहंकार) युद्ध से रोकता था। इसलिए इन दोनों के बीच में मन के इधर-उधर झूलने से तू कांपने लगा था। अब मेरे विराट् रूप के सामने तेरे अहंकार को चोट लगी और तुझे भान हो रहा है कि विराट् के सामने मैं शूर-शिरोमणि महारथी अर्जुन एक तृण के समान, तुच्छ हूं। इसलिए इस विराट् का आदेश न मानने से मेरी क्या गति होगी? इसी आशंका से कांपने लगा कि मैं विराट् का अंग होते हुए यदि विराट् के आदेश का पालन नहीं करूंगा तो मेरा अस्तित्व कहां बचेगा? हे अर्जुन!—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। 11/33

(क) तस्मात्वमुत्तिष्ठः हे अर्जुन! तुम खड़े हो जाओ। कर्तव्यपथ पर डट जाओ। सदा आशावान रहो। सदा आगे बढ़ने के लिए सिद्ध रहो।

(ख) यशोलभस्व—यशस्वी जीवन जीओ। अपयश से बचो। सफलता के लिए पुरुषार्थ करो। जो राष्ट्र सम्मानित जीवन नहीं बिताता, मिट जाता है।

(ग) जित्वा शत्रू—शत्रुओं को जीतो। चिर विजय की कामना ही राष्ट्र का आधार है। निरन्तर विजय की साधना करो। पराजय, पराधीनता जीवन की सबसे बड़ी लानत है। बाहर के शत्रुओं को भी जीतो और भीतर के शत्रुओं (देशद्रोही तत्त्वों) को भी जीतो। इसके अतिरिक्त मन के शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार को भी जीतो। जो स्वयं को जीत नहीं सकता वह जगत् को क्या जीतेगा?

(घ) भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्—समृद्धशाली, वैभवशाली राज्य को भोगो। राष्ट्र को परम वैभव की महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिए। व्यक्तिगत वैभव विलासिता है। राष्ट्रीय वैभव ऐतिहासिक गौरव का मानबिन्दु है।

राष्ट्र का वैभव राज्य के वैभव से अधिक मूल्यवान है। राष्ट्र समृद्ध होगा तो राज्य के बदलने पर भी समृद्धि बनी रहेगी। केवल राज्य शान-शौकत में रहे और राष्ट्र कंगाल रहे तो न राज्य बचेगा न राष्ट्र। कंगाल राष्ट्र वैभवशाली सत्ताधीशों के साथ विद्रोह करेगा और सत्ताधीश राष्ट्र के जन-गण की छातियों पर गोली चलाएगा।

(ङ) मयैवैत निहताः पूर्वमेव—ये सब पहले से ही मेरे द्वारा मार दिए गए हैं। ईश्वरीय न्याय से कोई बच नहीं सकता। चाहे मानवीय न्याय में कुछ देर के लिए बच जाए।

(च) ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति—हे अर्जुन! तेरे बिना भी ये सब योद्धा नहीं बचेंगे। अतः व्यक्ति को कर्तापन का अहंकार नहीं होना चाहिए। क्योंकि जिसको ईश्वर ही मारना चाहे उसे कौन बचा सकता है?

(छ) निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्—हे अर्जुन! तू निमित्त मात्र बन जा। व्यक्ति को ईश्वरीय संकल्प को पूरा करने में निमित्त मात्र बन जाना चाहिए।

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा होकर ही रहेगा। यदि हम उसके अनुकूल संकल्प करें तो हमें ईश्वरीय शक्ति एवं ईश्वरीय आशीर्वाद मिलेगा। कर्म में सफलता भी मिलेगी। कर्म में दिव्यता भी आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने से भागवत-संकल्प हमें कुचल डालेगा। वह काल रूप बनकर हमें ही खा जाएगा। स्वधर्म का पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अतः हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीय न्याय के निमित्त और भागवत संकल्प के सेनानी बनकर अपना कर्तव्य पालन प्रभु की प्रीति एवं कीर्ति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान् के चरणों पर नैवेद्य के रूप में चढ़ा देना चाहिए।

विशेष : विराट् रूप दर्शन गीता का बड़ा मार्मिक अध्याय है। इसमें मानव का अहंकार ठोकर खाता है और उसे अपनी तुच्छता का भान होता है। मानव के सारे अहम् उस विराट् के सामने गल जाते हैं और उसे सारे विश्व का नियमन करने वाली विराट् शक्ति का दर्शन होता है। इस अध्याय के पश्चात् अर्जुन श्रीकृष्ण को मित्र, सखा और गुरु मात्र ही न मानकर परब्रह्म परमेश्वर के रूप में पहचानने लगा और इसके पश्चात् उसने भगवान् से तर्कयुद्ध बंद कर दिया। और विनम्र होकर उनके आदेश को मानने के लिए प्रस्तुत होता है।

स्मरणीय श्लोक—

विराट् रूप दर्शन—18, 32

अर्जुन द्वारा क्षमायाचना, स्तुति—38, 41, 43

अध्याय 12

नामकरण : भक्तियोग

विषय-वस्तु : भक्ति ब्रह्म की रसात्मक अनुभूति है।

मानव चेतना के तीन पहलू हैं—

(1) ज्ञानात्मक (Knowing)

(2) रागात्मक (Feeling)

(3) संकल्पात्मक (Willing)

जीवन का लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति। जीव में व्यक्तिगत चेतना है और ब्रह्म विश्व चेतना का नाम है। इसलिए ब्रह्म-प्राप्ति के तीन मार्ग हो सकते हैं—

(क) Know the perfect पूर्ण को जानो (ज्ञान योग)।

(ख) Feel for the perfect पूर्ण के लिए सुख-दुःख, संयोग-वियोग, हर्ष-विषाद सब कुछ समर्पित कर दो (भक्ति योग)।

(ग) Act for the perfect पूर्ण के लिए कर्म करो (कर्मयोग)।

गीता के द्वितीय अध्याय में कर्मयोग का बीज है, तृतीय अध्याय में कर्मयोग का महत्त्व है, चतुर्थ में कर्म और ज्ञान से त्याग का समन्वय है। पांचवें में कर्म और ज्ञान (सांख्य और योग) दोनों की सिद्धावस्था में एकता तथा साधनावस्था में कर्मयोग की अधिक उपादेयता का वर्णन है। गीता का मुख्य उपदेश अर्जुन को निष्काम कर्मयोग में लगाना है। उसके लिए भक्ति और ज्ञान आदर्श कर्मयोगी की तैयारी हेतु अनिवार्य है। अध्याय 6 से 9 तक अव्यक्त (निराकार) की उपासना ध्यानयोग द्वारा तथा ज्ञानाश्रयी भक्ति द्वारा दर्शायी गयी है। दशम अध्याय से द्वादश अध्याय तक व्यक्त की उपासना अर्थात् सगुण भक्ति का निरूपण है। दशम में सर्वत्र ईश्वर दर्शन, एकादश में एकत्र और द्वादश में भक्ति का पूर्ण परिपाक दर्शाया गया है। जिस निर्गुण की उपासना करते हैं ध्यान द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा उसी को सगुण रूप में सर्वत्र देखते हैं। उसी विश्वरूप (विराट् रूप) में एकत्र देखते हैं। दिव्य दृष्टि से निराकार को साकार देखकर भक्त कर्म किस प्रकार से करे यह द्वादश अध्याय में बताया गया।

तैयारी कर्मयोग की—इसकी मनोभूमिका तैयार करने के लिए भक्तियोग 12 तक। 13 से 17 तक ज्ञान योग की चर्चा विस्तार से है। आदर्श कर्मयोगी को तत्त्व से भटकना नहीं चाहिए। इसलिए ज्ञान योग।

समस्या : अ. 6 से 8 तक अव्यक्त की महिमा और 9 से 12 अ. तक व्यक्त की महिमा गाई। कृपया बतावें दोनों का फल क्या है? और दोनों में श्रेष्ठ कौन-सा है?

उत्तर—हे अर्जुन! अव्यक्त की उपासना दो प्रकार से हो सकती है—

(क) योग मार्ग (पातंजलि योग, हठयोग, अष्टांग योग, कुण्डलिनी योग, प्राणायाम साधना, अनहद नाद, तंत्र साधना, तितिक्षा, सहन करने की साधना, पंचाग्नि तप, घोर तपस्या, तापस कष्ट साधना।

(ख) ज्ञानाश्रयी भक्ति—ईश्वर को निर्गुण-निराकार मानते हुए ज्ञानमिश्रित भक्ति (कबीर, नानक, दादू आदि) संतों का मार्ग—

ॐ कार साधना, गायत्री साधना, संध्या, यज्ञ, हवन, शून्य तत्त्व का चिन्तन आदि। व्यक्त की उपासना में भगवान् के सगुण-साकार रूप की अथवा किसी मानव शरीर में ईश्वरीय विभूति की, किसी देवता, ऋषि-महर्षि, किसी सिद्ध, संत की प्रतीक मूर्ति की पूजा है। इन दोनों का अन्तिम फल एक ही है। साकार और

निराकार, दोनों उपासना मार्ग से लोग मुझे ही पाते हैं। हां, निर्गुण की उपासना में एक फल सगुण की अपेक्षा अधिक मिलता है। वह है अधिक क्लेश। अतः सगुण और निर्गुण दोनों भक्ति मार्गों में सगुण ही शीघ्र फलदायी होता है। मानव शरीरधारी को निर्गुण निराकार पर मन टिकाना कठिन होता है इसलिए निर्गुण साधना में फल उठाना वैसे ही वृथा है जैसे एक सती का जो ऐसे पति के देहान्त पर सती होकर चिता पर चढ़ जाती है जिससे उसका विवाह हुआ ही नहीं।

प्रश्न—हे भगवान्! निष्काम कर्मयोग के उपदेश में भक्ति के ऐसे विस्तृत विश्लेषण का क्या महत्त्व है?

उत्तर—संस्कृत में भक्ति शब्द भज धातु से बना है। जिसका अर्थ है सेवा करना। (भज सेवायाम)

अतः सच्ची भक्ति कर्म से ही प्रतिफलित होती है। जिस गुरु या इष्ट के प्रति हमारी श्रद्धा-भक्ति होती है उसके प्रति सेवा की भावना होना अनिवार्य है। देशभक्ति का लक्षण है देश के प्रति सेवा। बिना सेवा कर्म के भक्ति मात्र आडम्बर, छल या नाटक रह जाती है। कर्म में श्रद्धा, ईश्वर में श्रद्धा, नर में नारायण तथा जीव में शिव के प्रति श्रद्धा भावना होने पर मनुष्य सब कर्मों को प्रभु की प्रीति के लिए करने लगता है। प्रत्येक जीव में शिव दिखने पर किसी जीव के प्रति किए कर्म का अहंकार मन में पैदा नहीं हो सकता। श्लोक 6-8। इस प्रकार सच्चे भक्त का मन भगवान् के ध्यान में लगा रहता है और हाथ जीव की सेवा में लगे रहते हैं। श्लोक 6-8।

पांचवें अध्याय (कर्मयोग) और 12वें अध्याय के भक्ति योग में बड़ी समता है।

पांचवां अध्याय = कर्म की भाषा में भक्ति तत्त्व।

12वां अध्याय-भक्ति की भाषा में कर्म तत्त्व।

पंचम अध्याय में कर्म सिद्धान्त की पूर्णाहुति (अन्तिम कथन)

द्वादश अध्याय में भक्ति की पूर्णाहुति (अन्तिम आख्यान)

पंचम अध्याय—

(1) कर्मयोग—कर्मों की सगुण साधना (2) सांख्य योग—संन्यास कर्मों का त्याग (निर्गुण साधना)

द्वादश अध्याय—

(1) सगुण भक्ति, (2) निर्गुण भक्ति।

पंचम अध्याय—सांख्य की अपेक्षा कर्मयोग अधिक उपयोगी है।

द्वादश अध्याय—निर्गुण निराकार की भक्ति की अपेक्षा सगुण भक्ति अधिक सरल एवं सहज है।

संन्यासी—अकर्म में कर्म (कर्म निष्काम)

निर्गुणोपासना—शून्य की भक्ति (भक्ति निराकार)

कर्मयोगी—कर्म में अकर्म (कर्म साकार)

सगुण भक्ति—भक्ति साकार

प्रश्न—ईश्वर का परोक्ष ज्ञान अथवा ईश्वर के नाम स्मरण का अभ्यास या ईश्वर का ध्यान या ईश्वर के निमित्त सब कर्मों के फल का त्याग। इन भिन्न-भिन्न मार्गों में कौन-सा अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है?

श्रेयो ही ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। 12/12, गीता

(क) अभ्यास से ज्ञान अधिक श्रेष्ठ है—यदि कोई बिना समझे भगवान् के नाम-जप आदि का अभ्यास कर रहा है तो उसकी अपेक्षा भगवान् के स्वरूप का बौद्धिक (अपने से अभिन्न देखते हुए) परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है।

(ख) परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा आत्मध्यान (अपनी आत्मा में प्रभु का निरन्तर चिन्तन करना अधिक श्रेष्ठ है)।

(ग) ध्यान की अपेक्षा सर्व कर्मों के फल का त्याग और भी कल्याणकारी है।

प्रश्न—सच्चा भक्त और स्थितप्रज्ञ, इन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर—सच्चा भक्त स्थितप्रज्ञ ही होता है। वह सब प्राणियों में ब्रह्म को देखता है। इसलिए किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से ममता नहीं, अपने प्रति अहंकार नहीं, अपने में आत्म संतुष्ट, फल या पुरस्कार की अपेक्षा न करने वाला, कर्तापन के अहंकार का त्यागी, मन और बुद्धि को मेरे में समर्पण करने वाला होता है।

प्रश्न—द्वितीय अध्याय में आपने समत्वयोग की चर्चा की। फिर पुनः छठे अध्याय में आपने समत्वदर्शी की महिमा गाई है, सातवें में आपने ज्ञानी भक्त को अपना आत्मा ही कहा। हे भगवान्! इस भक्ति योग में आदर्श भक्त के लक्षणों में और समत्वदर्शी में क्या अन्तर है?

उत्तर—हे अर्जुन! आदर्श भक्त समत्वदर्शी तो होता ही है। जब वह सुख-दुःख, हानि-लाभ, मित्र-शत्रु, निंदा-स्तुति, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में अपने मन को सम रख सकता है। तभी वह निरन्तर भक्ति भी करने के योग्य बनता है। जब मन ही द्वन्द्वों के बीच झूलता रहे तो भक्ति का हो सकना असम्भव है। ज्ञानी भक्त

इसलिए मेरी आत्मा है क्योंकि वह जन-जन और कण-कण में मेरा ही दर्शन करता है। जब सब मैं ही हूं तो कौन पराया, कौन बेगाना, कौन शत्रु बचेगा? इसलिए द्वन्दों में मन को सम रखने के बाद सारे विश्व के नानात्व में एक ही ब्रह्म का दर्शन होने से भक्त समदर्शी बन जाता है। कर्मयोगी इसी समदर्शन के आधार पर नर के भीतर के नारायण की पूजा करने लगता है। इस प्रकार ज्ञानयुक्त भक्ति प्रेरित निष्काम कर्मयोगी गीता का आदर्श पुरुष है।

काल रूप—विज्ञान काल परिच्छिन्न, काल द्वारा सीमित वस्तुओं का ही अध्ययन करता है। जाग्रत्, स्वप्न में हम काल में जीते हैं, सुषुप्ति में हम जीते हैं काल में, पर उसका भान नहीं होता।

जो जड़ जगत् में ही फंसे हुए हैं उन पर भगवान् भी काल रूप बनकर शासन करते हैं। उन्हें बार-बार मरना पड़ता है।

आत्म रूप—आत्म तत्त्व कालातीत तत्त्व की खोज करता है। समाधिवस्था या आत्मचिन्तन में हम शरीर से काल में जीते हुए भी Eternity अकाल सत्ता में चले जाते हैं। उस समय काल हमें नहीं खा सकता।

जो आत्म तत्त्व को पहचानते हैं वे अमर की उपासना से अमर हो जाते हैं।

विशेष : द्वादश अध्याय धर्म रूपी अमृत है। ज्ञान, भक्ति और कर्म का मार्ग Head, Heart and Hand है। भगवान् ने इस अध्याय को धर्म रूपी अमृत कहा। भगवान् कहते हैं कि जो इस धर्ममय अमृत को पढ़ते हैं और पढ़कर उसे अपने जीवन में उतारते हैं वे भक्त मुझे अति प्रिय हैं।

स्मरणीय श्लोक—

साकार-निराकार की उपासना—2, 3, 4

त्याग से निरन्तर शान्ति—12

अध्याय 13

नामकरण : क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

विषय-वस्तु : आत्म-अनात्म का विवेक। इसमें ज्ञान योग के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों को जड़-चेतन के भेद या आत्मा-अनात्मा के अन्तर से बड़ी सुन्दर रीति से दर्शाया गया है। दूसरे अध्याय में जो सत्-असत् का भेद दर्शाया गया है और आत्मा की शाश्वत सत्ता का सिद्धान्त संक्षेप में दिया गया है, उसी आत्मा के महत्त्व को इस अध्याय में विस्तार से दर्शाया गया है।

ईश्वर-प्राप्ति के साधन

(क) अव्यक्तोपासना में ध्यान तत्त्व (पातंजल योग मार्ग)।

(ख) सगुण भक्ति में प्रेम तत्त्व (वैष्णव सम्प्रदाय)।

(ग) ज्ञान मार्ग में विवेक विचार तत्त्व (सांख्य, वेदान्त)।

प्रश्न—शरीर ही मनुष्य का प्रथम बाह्य परिचय है। क्या शरीर को मानव मानकर काम नहीं चल सकता?

उत्तर—हे अर्जुन! शरीर तो मात्र एक यंत्र है। और जो इस क्षेत्र को जानने वाला आत्मा है वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। ये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक, आत्म-अनात्म का विवेक, जड़-चेतन का विवेक, यह ज्ञान योग का प्रथम पाठ है।

प्रश्न—क्षेत्र (शरीर) आदि के वर्णन में क्या-क्या सम्मिलित है और क्षेत्र के विकार क्या-क्या हो सकते हैं?

उत्तर—क्षेत्र की परिभाषा में आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ आ जाता है—

(क) पांच महाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश।

(ख) पांच ज्ञानेन्द्रियां—आंख, कान, नाक, रसना एवं त्वचा।

(ग) पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, वाणी, उपस्थ एवं गुदा।

(घ) विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध (इन्द्रियों के विषय)।

(ङ) अंतःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

यह क्षेत्र जड़ होने के कारण विकारी है इसके निम्नलिखित विकार होते हैं—

इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, देह की स्थूलता, देह की साधारण चेतना, धारण करने की शक्ति आदि। जैसे खेत बीज को धारण करता है। उसी प्रकार यह शरीर भी खेत के समान है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार आदि को धारण करता है।

तुलसी यह तन खेत, मनसा भया किसान,
पाप-पुण्य दो बीज हैं, बवे सो करे निदान।

प्रश्न—क्षेत्रज्ञ आपने वह बताया जो क्षेत्र का ज्ञान रखता है। कृपया ज्ञान के लक्षण बताइये?

उत्तर—सच्चे ज्ञान के निम्नलिखित लक्षण हैं—अमानित्व (निरहंकार भावना), अदम्भित (दम्भ या आडम्बर का न होना), अहिंसा, क्षमा, आर्जव (सरलता), गुरुसेवा, शौच (पवित्रता, शुचिता), स्थैर्य (स्थिरता), मनो-इन्द्रियनिग्रह, वैराग्य, अहंकार का अभाव, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि के दोषों का विचार करना, घर-गृहस्थी, धन आदि में अनासक्ति, चित्त की समता वाला

(हर्ष-शोक आदि में), मुझमें अनन्य भक्ति, एकान्त एवं शुद्ध देश में रहने वाला स्वभाव, भीड़ से अरुचि, अध्यात्म ज्ञान में स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थ (परब्रह्म परमेश्वर) का सर्वत्र दर्शन। ये सब ज्ञान के लक्षण हैं। इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है।

प्रश्न—परब्रह्म का स्वरूप कैसा है?

उत्तर—सब ओर उसके हाथ-पैर हैं। आंखें, सिर-मुख हैं, कान हैं और सबको व्याप्त करके विराजमान है। वह इन्द्रियों से रहित होते हुए भी इन्द्रियों के समस्त विषयों को जानने वाला है। वह विभक्तों में अविभक्त है, ज्योतियों में ज्योति है। ज्ञान, ज्ञेय और सबके हृदय में विराजमान है।

प्रश्न—प्रकृति और पुरुष का क्या सम्बन्ध है? कार्य और करण की उत्पत्ति में क्या प्रकृति हेतु है?

उत्तर—प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, सांख्यशास्त्र में दोनों अनादि हैं। राग-द्वेष आदि विकार प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।

कार्य = पांच तत्त्व और पांच विषय।

करण = पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, और चार अन्तःकरण।

प्रश्न—भोक्ता कौन है?

उत्तर—दुःख-सुख को भोगने में जीवात्मा हेतु है।

प्रश्न—सच्चा ज्ञानी किस दृष्टि से देखता है?

उत्तर—**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।**
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

विशेष : ज्ञान योग का अत्यन्त सुन्दर निर्देशन इस अध्याय में दिया गया है। इसमें सांख्य दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त बहुत सुन्दर रीति से दर्शाये गए हैं और अन्त में वेदान्त के ब्रह्म का आत्मरूप से दर्शन भी बड़ा मनोहारी है। ज्ञान के लक्षणों में सब ओर से ज्ञान की उत्तम से उत्तम परिभाषा दी गई है।

स्मरणीय श्लोक—

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ—1

सर्वव्यापक विभु—13, 27

मन-मन्दिर प्रभु की परम ज्योति—17

ध्यानयोग—15

अध्याय 14

नामकरण : गुणत्रयविभागयोग

विषय-वस्तु : यहां से गीता के ज्ञान योग के अन्तर्गत गीता का समाज दर्शन प्रारम्भ होता है। पुरुष की सत्ता-स्फूर्ति से प्रकृति जगत् को रचती है और तीन गुणों के आधार पर सारे जगत् को नचाती है। गुणों की मात्रा घटने-बढ़ने से समाज में अज्ञान, संघर्ष, शान्ति की मात्रा कम-अधिक होने से कोटि-कोटि व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले बन जाते हैं। पुरुष ने इच्छा की, प्रकृति ने रचना करके अपने गुणों की मुहर लगा दी और प्रकृति में इतनी अदल-बदल होती रहती है कि सभी व्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हैं और एक ही व्यक्ति में तीनों गुण इतने घटते-बढ़ते रहने से व्यक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्था होती है।

रजोगुण सत्त्वगुण की ओर—अर्जुन, गांधी, तिलक।

रजोगुण तमोगुण की ओर—दुर्योधन, कंस।

समस्या : हे भगवान्! आपने आत्म-अनात्म, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का भेद बताया। किन्तु इन दोनों के सम्बन्ध से सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है यह स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—प्रकृति का एक नाम महत् ब्रह्म भी है। इसे वेदान्ती लोग माया भी कहते हैं। इसी के कारण आत्मतत्त्व अज्ञान के पर्दे में छिप जाता है। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर पहले बुद्धि तत्त्व, फिर मन, फिर अहंकार, फिर अहंकार से पंचमहाभूत, उससे पांच विषय, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां है। तब ही जीव के मन में प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज और तम घुस जाते हैं। विषयों के प्रति वासना पैदा हो जाती है। तब चार प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं।

(क) उद्‌भिज (वनस्पति)—जल और पृथ्वी तत्त्व की प्रबलता होने पर केवल तमोगुण रहता है तब वृक्ष व वनस्पतियां पैदा होती हैं।

(ख) स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले कीट-कीटाणु)—जल तत्त्व और तेज (अग्नि तत्त्व) के साथ तम और रज गुणों का मेल होने से स्वेदज (पसीने के) कीट-कीटाणु पैदा होते हैं। जूं, खटमल, मच्छर आदि। मनुष्य के शरीर में, पशु के शरीर में, प्रकृति के शरीर में इन कारणों के कारण कीट-कीटाणु और चर्म रोग पैदा होते हैं।

(ग) अंडज (पक्षी आदि जो अण्डे से पैदा होते हैं)—आकाश एवं वायु तत्त्व के मेल द्वारा तम और रज गुण के प्रभाव से अंडज जीव उत्पन्न होते हैं।

(घ) जारज—(वीर्य से उत्पन्न होना)—पांच तत्त्वों का मेल पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और तीनों गुणों का सहयोग होने पर जारज जीव उत्पन्न होते हैं।

हे अर्जुन! सब योनियों में महत् (प्रकृति) तो माता रूप है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूं। श्लोक 3-4।

प्रश्न—हे भगवान्! प्रकृति के तीन गुणों का परिचय दीजिये।

उत्तर—हे अर्जुन! सत्त्व गुण उत्तम है, रजोगुण मध्यम है, तमोगुण अधम है। सत्त्व शान्ति में, रजोगुण संघर्ष में और तमोगुण अज्ञान में है। सत्त्व गुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह होता है। सत्त्व गुण ऊपर उठाता है। रजोगुण मध्य में बनाए रखता है और तमोगुण नीचे गिराता है।

प्रश्न—हे भगवान्! ये तीनों गुण क्या एक ही मात्रा में रहते हैं या घटते-बढ़ते रहते हैं?

उत्तर—ये सदा घटते-बढ़ते रहते हैं। प्रातःकाल के समय बाहर की प्रकृति में सत्त्व गुण का प्राबल्य, मध्य में रजोगुण की अधिकता और रात्रि में तमोगुण की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार लोगों की अन्तःप्रकृति में भी भिन्न-भिन्न गुणों का प्राबल्य घटता-बढ़ता रहता है। ब्राह्ममुहूर्त के सत्त्व प्रधान समय में भी तमोगुणी प्रकृति का व्यक्ति सोया रहता है और उसी समय रजोगुणी व्यक्ति जागकर खेत में हल चलाने लग जाता है। हथौड़ा, मशीन चलाने लगता है। दिन के रजोगुणी समय में भी सत्त्वगुणी व्यक्ति स्वाध्याय, शास्त्र अध्ययन, गीतापाठ करता है। रजोगुणी परिश्रम, संघर्ष में लगा रहता है। और तमोगुणी उस समय भी प्रमाद में (अनुपयोगी कार्यों में) समय बिताता है। तमोगुण के तीन लक्षण—निद्रा, आलस्य, प्रमाद है। रात्रि के समय में निद्रा, ब्राह्ममुहूर्त में आलस्य और दिन में प्रमाद। रात्रि के तमोगुण के समय में भी योगी सत्त्व गुण की साधना करता है। रजोगुणी (सैनिक आदि) रात्रिकाल में भी युद्ध करते हैं और तमोगुणी तो सोता है। इस प्रकार बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के गुण परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किन्तु अंतःप्रकृति के गुण ही अधिक शक्तिशाली होते हैं। बाह्य प्रकृति ब्रह्माण्ड अन्तः-प्रकृति पिण्ड में दोनों के घात-प्रतिघात में अन्तःप्रकृति बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेती है।

प्रश्न—इन गुणों को बांधने वाला क्यों माना गया है?

उत्तर—गुण = रज्जु, रस्सी।

हे अर्जुन! गुण का अर्थ ही बंधन है। इन तीनों गुणों का अलग-अलग बंधन है। पर ये एक-दूसरे को दबाकर अपना प्रभाव बढ़ा लेते हैं। रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है। सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है।

(क) **तमोगुण**—निद्रा, आलस्य, प्रमाद में ऐसा बांधता है कि मनुष्य को पशु, कीट आदि योनियों में भटकाता है।

(ख) **रजोगुण**—संघर्ष, लोभ, विजय की आकांक्षा, युद्ध आदि कर्म में लगाता है। ज्यों-ज्यों संघर्ष करता है त्यों-त्यों संघर्ष बढ़ता है। लोभ से लोभ बढ़ता ही जाता है, स्वार्थ का पेट कभी भरता ही नहीं। कर्म का दलदल हर पग पर मनुष्य को और गहरा धँसाता जाता है। यदि तमोन्मुखी रजोगुण हो तो घोर एवं क्रूर कर्मों में लगाता है—हिटलर, चंगेज खां, रावण, कंस आदि। यदि सत्त्वोन्मुखी रजोगुण हो तो विजेता, राष्ट्रनिर्माता, समाज विधाता, अवतारी पुरुष बना देता है। जैसे राम, कृष्ण, गुरुगोविन्द सिंह, तिलक आदि।

(ग) **सत्त्व गुण**—ज्ञान का अहंकार, सुख-शान्ति के लोभ में बांध देता है। एक व्यक्ति आलस्य त्यागकर कर्मशील बनता है, कर्मों से अच्छी कमाई होने के पश्चात् उसे संसार से वैराग्य हो जाता है। वह साधु बनकर सत्संग-स्वाध्याय करता है। धीरे-धीरे सत्त्वगुण से बुद्धि निर्मल हो जाती है और उसमें ज्ञान का प्रकाश होता है। फिर वह दूसरे को ज्ञान का उपदेश देने लगता है। फिर चेले-चेलियां बनाने लगता है। घर-बार त्यागकर हिमालय में, हरिद्वार में ज्ञान साधना के लिए गया था पर वहां बहुत से आश्रम बना लेता है। चेले-चेलियों का वहां भी संसार बन जाता है। इस तरह सत्त्वगुण से रजोगुण में फिसल जाता है। सत्त्वगुण फिसलने वाला स्थान है। चार व्यक्तियों का परिवार छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है पर मान, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिए मठ आदि स्थापित करके हजारों चेले-चेलियों का परिवार खोल लेता है।

अपने ज्ञान का अहंकार हो जाने से वह मनुष्य पुनः रज और तम की ओर बढ़ता है। दूसरे महात्माओं से अपने को श्रेष्ठ मानने पर संघर्ष बढ़ता है। साधुओं, मठाधीशों की सम्पत्ति के केस कचहरी में चलते हैं। जब किसी ज्ञानी की समाज में प्रतिष्ठा हो जाती है तब वह चर्म पुजाने वाला प्रमादी व्यक्ति बन जाता है, मठ की सम्पत्ति बढ़ने पर दुर्व्यसनों की ओर झुकाव होता है। भांग, चरस, गांजा, निद्रा, आलस्य, मांस खाना, दिन में सोना आदि का तमोगुणी लक्षण देश के 5-6 लाख बाबाओं में पाया जाता है।

प्रश्न—हे भगवान्! इन गुणों के दुष्परिणाम से बचने के लिए क्या उपाय हैं और तीनों गुण के बंधन से मुक्त होने का क्या उपाय है?

उत्तर—हे अर्जुन! तमोगुण को जीतने के लिए दैनिक व्यायाम, शारीरिक श्रम अनिवार्य है। आलसी व्यक्ति समाज का कोढ़ है। वह स्वयं कुछ नहीं करता दूसरों की कमाई पर जीता है। समाज में आलस्य दो प्रकार के होते हैं—

(क) दरिद्रों का आलस्य—कंगाल, भिखमंगे।

(ख) धनवानों का आलस्य—व्यापारी, धनिक।

जो दरिद्र हैं वे रुंड (धड़) के समान हैं। जिनके पास बुद्धि का प्रकाश नहीं है। दूसरी ओर बुद्धिमान्, चतुर, पढ़े-लिखे, व्यवसायी, अफसर मुण्ड के समान हैं जिनके पास खोपड़ी तो है पर शारीरिक श्रम नहीं करते। यानी रुंड नहीं हैं। वे भी आलसी हैं। समाज ऐसे रुंडों और मुण्डों से भरा हुआ है। कटे हुए राहु और केतु के समान समाज के लिए अभिशाप हैं। इसलिए तमोगुण को विजय करने के लिए शारीरिक श्रम प्रत्येक को करना चाहिए। रजोगुण को विजय करने के लिए मनुष्य को स्वधर्म का पालन करना चाहिए। मनुष्य दिनभर परिश्रम करने के बाद सो जाता है और जागने के बाद फिर परिश्रम करता है। परिश्रम रजोगुण है। और सोना तमोगुण है। इस तरह रजोगुण और तमोगुण की ठोकरें खाता रहता है। इसलिए उसे स्वधर्म का पालन करना चाहिए, सत्त्व गुण का ध्यान करके अपने फलों को भगवान् को समर्पित कर देना चाहिए।

तमोगुणी कर्ता = आलसी, प्रमादी, निद्रालु। कुम्भकर्ण को मार डालो।

रजोगुणी कर्ता = सकाम कर्मी, रजोगुणी रावण का कलेजा चीर डालो।

सत्त्वगुणी कर्ता = निष्काम कर्मयोगी—सत्त्वगुणी, विभीषण को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दो।

विशेष : इन तीन गुणों के विश्लेषण से मानव की अन्तःप्रकृति के रहस्य खुलते हैं और समाज रचना की दृष्टि स्पष्ट होती है। एक आदर्श कर्मयोगी को यदि इन तीनों गुणों के प्रभाव का सम्यक् ज्ञान रहेगा तो वह न कर्म से भागेगा और न कर्म को मात्र स्वार्थ या मजदूरी के लिए करेगा। वरन् निष्काम कर्मयोगी बन कर भगवान् की प्रीति के लिए सब काम करेगा।

स्मरणीय श्लोक—

प्रकृति के तीन गुण—5, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 12

अध्याय 15

नामकरण : पुरुषोत्तमयोग या पूर्णयोग

विषय-वस्तु : इसमें संसार रूपी वृक्ष का आलंकारिक एवं तात्त्विक वर्णन। प्रकृति-पुरुष से परे पुरुषोत्तम शुद्ध ब्रह्म तत्त्व एवं जीवन्मुक्त के लक्षण आदि बताये गए हैं।

समस्या : हे भगवान्! प्रकृति और पुरुष का जो सम्बन्ध आपने 13वें अध्याय में बताया और 14वें में प्रकृति द्वारा तीन गुणों के मेल से सृष्टिरचना का जो क्रम समझाया वह बड़ा ज्ञानवर्धक रहा। अब आप यह समझाइये कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष के इस मायाजाल से मुक्ति का क्या उपाय है?

हे भगवान्! मुझे यह पहेली समझ में नहीं आई। अतः इसे अभिधा (सरल शैली) में न समझाकर लक्षणा शैली में समझाइये।

उत्तर—हे अर्जुन! मैं इसे एक पहेली से समझाता हूं। एक उलटा पीपल का वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर, शाखा नीचे है। जिसके पत्तों में वेद मंत्र हैं। जिसकी शाखाएं ऊपर और नीचे चारों ओर फैली हुई है, जो प्रकृति के गुणों से बढ़ती है। जिसमें विषय रूपी कोंपलें लगती है। जिसमें देव, मनुष्य, त्रियक् आदि ऊपर-नीचे की योनियों की शाखाएं फैली हुई हैं और मनुष्य योनि को कर्म के बंधन में डालने वाली है।

मेरे प्यारे अर्जुन, इसमें वृक्ष के प्रतीक से जगत् की पहेली की ओर संकेत किया गया है। इसमें निम्नलिखित रहस्य भरे पड़े हैं—

(क) उलटा पीपल का वृक्ष मनुष्य का शरीर भी माना जा सकता है। क्योंकि मनुष्यता का मूल उसकी बुद्धि में है जो सबसे ऊपर मस्तिष्क में केन्द्रित है। नीचे की ओर शाखा-प्रशाखाएं हैं। इसी के आधार पर मनुष्य की मानवता के विकास को मापा जा सकता है।

(ख) योग की परिभाषा में जीवन की सारी प्रगति लंगोटी के स्थान (मूलाधारचक्र) से लेकर ब्रह्मरंध्र (चोटी के स्थान) तक उठने में है। मन पर संयम और इन्द्रिय निग्रह करने से मूलाधार में सोयी पड़ी कुण्डलिनी शक्ति जागती है और धीरे-धीरे ऊपर उठती है। एक-एक मण्डल को पार करने से एक-एक सिद्धि मिलती है। मेरुदण्ड एक मेरु (पर्वत) के समान है जिससे कुण्डलिनी शक्ति ऊपर उठती हुई ब्रह्मरंध्र रूपी कैलास में शिव से मिलती है। इस प्रकार कन्याकुमारी से उठकर कैलास तक पहुंचने पर शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है।

(ग) मानव के शरीर में जीवन-मूल्यों का माप तंत्र भी लगा हुआ है। जो जीवन-मूल्य अपेक्षाकृत उच्च होते हैं उनमें निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं—

(1) शक्ति का व्यय कम और फल अपेक्षाकृत अधिक।

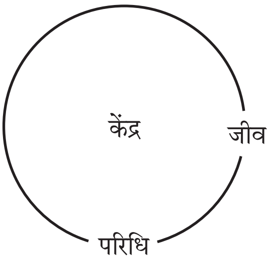
(2) अधिक लोगों में बांटने की क्षमता।

(3) Productivity वह जीवन-मूल्य जिसका प्रयोग होने से नष्ट हो जाता है तो घटिया जीवन-मूल्य और यदि प्रयोग से बढ़ता है तो उस दृष्टि से उच्च जीवन-मूल्य है।

Sex (काम)—तृप्ति सबसे घटिया जीवन-मूल्य है क्योंकि इसमें शक्ति का व्यय अधिक और प्राप्त सुख कम होता है। इसे सगे भाई से भी बांटा नहीं जा सकता। और यह प्रयोग से क्षीण हो जाती है, बढ़ती नहीं है। इसके ऊपर पेट का स्थान अतः रोटी का जीवन-मूल्य काम तृप्ति से अधिक है। इसमें काम की अपेक्षा

शक्ति कम लगाकर सुख अधिक प्राप्त किया जाता है। भोजन को मित्र, बंधु, अतिथि और निर्धन के साथ बांटा जा सकता है। इसलिए भोजन का मूल्य काम-सुख से अधिक है। उसके ऊपर वस्तु का मूल्य है उसके ऊपर बाहुबल, उसके ऊपर कंठ (गायन विद्या), उसके ऊपर वक्तृत्व शक्ति, उसके ऊपर दार्शनिक और सबसे ऊपर ब्रह्मज्ञान का मूल्य है। इस प्रकार मानव जीवन की साधना का मापदण्ड मानव शरीर में ही बना हुआ है।

(घ) यह उलटा वृक्ष पीपल का वृक्ष है। संसार रूपी वृक्ष है। नक्षत्र वैज्ञानिक शब्दावली में अर्ध का अर्थ केन्द्र और अधा का अर्थ परिधि होता है। अतः सृष्टि के मूल केन्द्र में ब्रह्म और बाहर की परिधि में प्रकृति है। केन्द्र एक बिन्दु है जिस पर परिधि अवलम्बित है। किन्तु बिन्दु की कोई लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं होती। पर उन्हीं बिन्दुओं से बनने वाली गोल परिधि रेखा का आकार स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार पुरुष (ब्रह्म) के निराकार होते हुए भी उसके द्वारा निर्मित सृष्टि साकार दिखने लगती है। प्रकृति में परिवर्तन चक्र या आवागमन चक्र चल रहा है। प्रकृति के इस चक्र में भटकना ही भटकना है। इस चक्र का अन्त नहीं है। केन्द्र में शान्ति है—



चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दुइ पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय।।

इसके उत्तर में ब्रह्मज्ञानी पुत्र कमाल ने कहा—

चलती चक्की देख के, दिया कमाल हंसाय।
कील सहारे जो रहे सो क्यों पीसा जाय।।

इस प्रकार जो प्रकृति के, चक्की के परिधि में रहते हैं, पिस जाते हैं और जो केन्द्र रूपी ब्रह्म की शरण चले जाते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। परिधि से केन्द्र की ओर आर-पार जाने वाली रेखा को व्यास कहते हैं। अतः जब जीव किसी व्यास गुरु का सहारा लेकर परिधि से केन्द्र की ओर छलांग लगाता है तो मुक्त हो जाता है।

(ङ) संसार रूपी वृक्ष को पीपल (अश्वत्थ) इसलिए कहा गया है कि वह श्व (कल) तक टिकने वाला नहीं है। संसार अ+श्व+त्थम (कल तक स्थिर रहने वाला नहीं) है। अर्ध का अर्थ महानता, तेज, अमरता, आदि भी लिया जाता है। अधा का अर्थ पतन, दुःख, मृत्यु आदि भी लिया जाता है। इस संसार रूपी वृक्ष का मूल अमर वस्तु है किन्तु उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं में नश्वर वस्तु एवं प्राणी हैं। मूल सूक्ष्म होता है और शाखा-प्रशाखा विस्तृत। ब्रह्म सूक्ष्म है किन्तु जगत् का

विस्तार बड़ा है जैसे बिन्दु ही परिधि में समाया हुआ है। उसी प्रकार निराकार ब्रह्म ही साकार ब्रह्म में समाया है। जगत् के अणु-अणु में ईश्वर की ही विभूति, पत्ते-पत्ते में वेदमंत्रों के समान छिपी हुई है। प्रकृति के तीन गुणों से इस संसार रूपी वृक्ष की शाखा-प्रशाखा ऊपर-नीचे फैलती है, प्रकृति के पांच तत्त्व, पांच ज्ञानेन्द्रियां एवं पांच कर्मेन्द्रियां के द्वारा पांच विषयों की ओर (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की ओर) खींचते हैं। जिससे संसार रूपी वृक्ष की नयी-नयी कोंपलें उगती जाती हैं। जैसे राजा शान्तनु ने रजोगुण से प्रेरित होकर चक्षु रूपी इन्द्रिय से सत्यवती नामक मत्स्य कन्या के रूप को देखा और इच्छा की कि यह मेरी रानी होनी चाहिए। इससे मन में संकल्प रूपी कोंपल पैदा हो गई जिससे आगे चलकर महाभारत रूपी विराट् वृक्ष पैदा हो गया। यह बढ़ता ही बढ़ता जाता है। नये कोंपल से, शाखा-प्रशाखा से, नया वृक्ष बन जाता है। उससे अंहता-ममता और वासना रूपी जड़ें फैलती है। और भिन्न-भिन्न योनियों के कर्मों के अनुसार बांध देती है। पीपल की जड़ें जल्दी बढ़ती नहीं। इसका बीज भी इतना वीर्यवान होता है कि वह पक्षियों द्वारा खा लेने के पश्चात् भी उनकी बीट में से वृक्ष अंकुरित होने लगते हैं। इस प्रकार संसार के प्रपंच को कोई कितना ही त्यागे उसके सूक्ष्म संस्कार (बीज में) से पुनः-पुनः नया संसार पैदा हो जाता है। बड़ और पीपल की जटायें वृक्ष की शाखाओं से निकलकर नीचे आकर जब धरती को स्पर्श करती हैं तो स्वयं ही जड़ (मूल) के समान बन जाती है और कुछ समय के पश्चात् उन जटाओं से उतनी संख्या में नए वृक्ष निर्माण हो जाते हैं। इस प्रकार संसार रूपी वृक्ष बढ़ता ही जाता है।

प्रश्न—हे भगवान्! इस भयानक विस्तार वाले संसार रूपी वृक्ष का निराकरण कैसे हो सकता है?

उत्तर—हे अर्जुन! इस संसार रूपी वृक्ष का विचार करने से इसका रूप दिखाई नहीं देता। इसका आदि-अन्त भी दिखाई नहीं देता। इसकी स्थिति भी दिखाई नहीं देती पर इस अहंता-ममता और वासना रूप दृढ़ मूलों वाले संसार रूपी वृक्ष को काटने का एक उपाय है अर्थात् दृढ़ वैराग्य रूपी शस्त्र से इसे काटा जा सकता है।

प्रश्न—संसार रूपी वृक्ष को वैराग्य से काटने के पश्चात् मनुष्य को किस लक्ष्य की खोज करनी चाहिए?

उत्तर—हे अर्जुन! उसे केन्द्र की शान्ति चाहिए। अतः उसे ऐसे पद को खोजना चाहिए जिसमें पहुंचने के बाद फिर आवागमन के चक्र से लौटकर न आना पड़े। उस परम ज्योति के पद को न सूर्य प्रकाशित करता है न चन्द्र और न अग्नि ही। क्योंकि इनके प्रकाश भी सीमित हैं और यह स्वयं अपना प्रकाश भी परब्रह्म से ही उधार लेते हैं।

प्रश्न—ऐसे परम पद को पाने के अधिकारी कैसे होते हैं?

उत्तर—जिन्हें न मान है और न मोह, जिन्होंने संग दोष सब वस्तुओं, व्यक्तियों, कर्मों को जीत लिया है, जो निरन्तर अध्यात्म में लगे हैं, जिनकी सब कामनायें दूर हो गई हैं, जो द्वन्द्वों से वियुक्त हैं (सुख-दुःख आदि), वे ज्ञानीजन उस परम पद को पाते हैं।

(1) काम निवृत्त, (2) क्रोध का प्रश्न नहीं (जब काम नहीं तो क्रोध नहीं), (3) लोभ का स्थान नहीं (कामपूर्ति से लोभ होता है तथा काम में बाधा से क्रोध, (4) मोह से रहित (जीत संगदोष), (5) अहंकार विजय (निर्मान) मान भावना से रहित, (6) द्वन्द्वों से मुक्त (दुःख-सुख, जय-पराजय, हानि-लाभ), (7) निरन्तर आत्मचिन्तन करने वाला।

प्रश्न—जीवात्मा का शुद्ध आत्मा से क्या अन्तर है?

उत्तर—हे अर्जुन! जीवात्मा मेरा अंश है जो जीवों के भीतर है। वह प्रकृति में स्थित पांच इन्द्रियों और मन को अपनी ओर खींचता है। जब एक शरीर को छोड़ता है तब जीवात्मा पहले शरीर के मन, इन्द्रिय आदि को लेकर दूसरे शरीर में जाता है। ये सूक्ष्म शरीर (मन) एवं संस्कार स्थूल शरीर के मरने पर मरते नहीं। यही पूंजी है जो जीव अगले जन्म तक ले जाता है। इसकी तुलना में शुद्ध आत्मा तो स्वयं मैं ही हूं। इसलिए वेदान्त में शुद्ध आत्मा को ही ब्रह्म माना गया है। मैं ही सबके हृदय में आत्मरूप से स्थित हूं, मेरे द्वारा ही सब जीवों को स्मृति, ज्ञान और अपोहन (अनावश्यक बातों की विस्मृति) हो रहा है। सब वेदों का सार मैं ही हूं।

प्रश्न—भक्ति और ज्ञान को आप मिलाकर कथन करते हैं और निष्कर्ष में कर्म की महत्ता भी दर्शाते हैं। कृपया इसके महत्त्व को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—हे अर्जुन! बिना आत्मज्ञान के त्रिगुणात्मक संसार से पार जाना असम्भव है, किन्तु ज्ञान जब भक्ति से समन्वित होता है तब साधना सुगम हो जाती है और ज्ञान भी रसीला बन जाता है। सेवा की त्रिपुटी है सेव्य, सेवक और सेवा साधना। पुरुषोत्तम परमात्मा सेव्य है, जीवात्मा सेवक और नानारूपात्मक सृष्टि सेवा का सुन्दर साधन है। अतः सृष्टि के नश्वर सब रंग-बिरंगे फूलों को लेकर जीव सेवक के समान सृष्टा सेव्य की पूजा में चढ़ा देता है। सारे जीवन को पूजा बन जाना चाहिए। भक्ति तो अहंकार शून्य सेवा ही है। इसलिए जैसे 12वें अध्याय में बताया सच्चा भक्त कर्मशील सेवा परायण बन जाता है। इस तरह भक्ति कर्म में फलती है। उसमें ज्ञान रूपी प्रकाश भी तब आ मिलता है जब अपने में और सबमें पुरुष का दर्शन करते हैं। इस तरह कर्म में भक्ति का पुट है और ज्ञान का योग देने से जीवन दिव्य रसायन बन गया।

प्रश्न—हे भगवान्! सांख्य में जो प्रकृति और पुरुष का भेद बताया गया है क्या वह अन्तिम है? या अधिक ऊंचे ज्ञान की प्राप्ति के लिए सीढ़ी है।

उत्तर—हे अर्जुन! अध्यात्म की कोई चर्चा तब तक की ही नहीं जा सकती जब तक जड़-चेतन, क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, पुरुष-प्रकृति का भेद न बताया जाए। किन्तु ये भेद ही अन्तिम वचन नहीं हैं। परम तत्त्व तो भेद से परे अभेद है, द्वैत से परे अद्वैत है। अतः क्षर और अक्षर इन दोनों से परे मैं पुरुषोत्तम हूं जिसमें प्रकृति और पुरुष के सब भेद लय हो जाते हैं। यह मेरा गुह्यतम शास्त्र है इसे पूर्ण योग समझो।

विशेष : पुरुष शब्द कई बार भ्रान्ति पैदा करता है क्योंकि कुछ दार्शनिक इसे आत्मा के अर्थ में प्रयोग करते हैं, कुछ जीवात्मा के अर्थ में, कुछ परमात्मा के अर्थ में। इसलिए इस अध्याय में शुद्ध ब्रह्म को सबसे पृथक्, अलिप्त परम तत्त्व के रूप में पुरुषोत्तम नाम देकर भ्रान्ति दूर कर दी गई है।

संसार चक्र की विशेष व्याख्या—

निमित्त कारण Efficient Cause

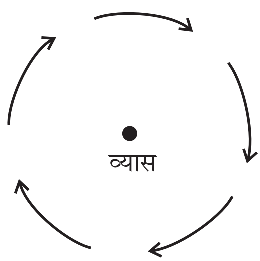
उपादान कारण Material Cause

व्यापक कारण Imminent Cause

सृष्टि और सृष्टा को जानने वाला गुरु

परिधि को भेदने वाला गुरु

परिधि के ओर-छोर को जानने वाला



(1) संसार एक चक्र के समान है।

(2) चक्र सीमित होते हुए भी अनादि अनन्त प्रतीत होता है। Begining less, Endless

(3) चक्र एक रेखा से घिरा हुआ है।

(4) रेखा बिन्दुओं की अनवरत श्रृंखला का नाम है।

(5) रेखा की मात्र लम्बाई होती है मोटाई-चौड़ाई नहीं।

A Line has a length and no width, thickness

(6) केन्द्र भी एक बिन्दु है और वृत्त बिन्दुओं की रेखा का पूर्ण चक्र है।

(7) बिन्दु दो रेखाओं के काटने से बनता है।

When two lines cross a point is made.

वास्तव में बिन्दु की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई कुछ भी नहीं होती। हम सापेक्ष बिन्दु बना सकते हैं। निरपेक्ष (शुद्ध) बिन्दु बनाना ही असम्भव है।

(8) वृत्त बिन्दु (केन्द्र) पर अवलम्बित है। केन्द्र नहीं तो वृत्त नहीं।

वृत्त की रेखा भी बिन्दुओं से बनी है।

(9) बिन्दु ही वृत्त का निमित्त कारण है और बिन्दु ही वृत्त का उपादान कारण है।

बिन्दु ही वृत्त में व्यापक है।

(10) निराकार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है (सृष्टा)।

निराकार ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है (पदार्थ)।

निराकार ब्रह्म ही जगत् में व्यापक है।

(11) तत् सृष्ट्वा तामेवानु प्रविशत—वेद।

उसने सृष्टि रची वही उसमें प्रवेश कर गया।

(12) बिन्दु निराकार है, किन्तु वृत्त का आकार बन जाता है।

(13) सृष्टि का आकार तत्त्वतः नहीं है, किन्तु व्यवहार में दीखता है। यही भ्रान्ति है, माया है। सृष्टि रूपी कदली वृक्ष को ज्यों-ज्यों विश्लेषण करके छीलते जावें, धीरे-धीरे सब कुछ समाप्त हो जाता है। कुछ नहीं बचता है। (जल तत्त्व को छोड़कर, बुद्बुद, फेन, तरंग, वीचि, लहर, ज्वार-भाटा, वाष्प, बादल, मूसलाधार वर्षा, हिमपात, नदी, नद, नाला, तालाब, कूप, बावली, झरना, समुद्र, महासमुद्र सभी मिथ्या निकलते हैं।) माया अनिर्वचनीय है।

The world is an unreal Reality (श्री अरविन्द)

आकार, नाम-रूप मिथ्या है, धोखा है।

(14) वृत्त के एक छोर से दूसरे छोर तक केन्द्र को स्पर्श करने वाली रेखा को व्यास कहते हैं। व्यास-विस्तार सृष्टि के एक छोर से दूसरे छोर तक समग्र को प्रकाशित करने वाला व्यास है।

(15) जीव एक परिधि पर स्थित बिन्दु के समान है। वह संसार चक्र में घूमता रहता है।

पुनर्जन्म चक्र

कर्मचक्र

परिवर्तन चक्र।

अनन्त चक्रों में घूमते हुए भी उसकी गर्दिश (घूमने) का अन्त नहीं आता।

संसार चक्र का आदि-अंत दिखाई नहीं देता।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे, कृपयापारे पाहि मुरारे।।—शंकराचार्य

परिधि में गुलामी, परवशता, घूमने में परवशता। केन्द्र में घुमाने की शक्ति।

(16) कबीर—**चलती चक्की देखिके, दिया कबीरा रोय।**
दुइ पाटन के बीच में, साबत बचा न कोय।।

दो पाट द्वैत के हैं, प्रत्येक गुण का विरोधी गुण भी है—सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मित्र-शत्रु, अपना-पराया। जहां प्रकृति है वहां द्वैत है।

कमाल—**चलती चक्की देखिके, दिया कमाल हास।**
उनको चक्की क्या करे, जो कीली के पास।।

जो दाने (जीव) केन्द्र (चैतन्य सत्ता) अपने मूल की ओर जाते हैं वे मुक्त हो जाते हैं।

केन्द्र में शान्ति	परिधि में चक्कर
केन्द्र में नियन्त्रण कर्ता	परिधि में परवशता, बंधन
(नियन्ता)	(नियंत्रित)



चलती चक्की

(17) शान्ति के जिज्ञासु साधक को परिधि से केन्द्र में छलांग लगानी चाहिए।

(18) परिधि को केन्द्र से जोड़ने वाली रेखा व्यास है। अतः जब जीव किसी व्यास (गुरु) की शरण लेकर परिधि से केन्द्र में छलांग लगाता है तब मुक्त हो जाता है। बिन्दु निरपेक्ष नहीं हो सकता। उसको बनाने के लिए आधार चाहिए। अतः सापेक्ष है। और परिधि में इसलिए सीमित याने स्थानबद्ध और कालकवलित हो जाता है। कोई भी वस्तु बनाई जाएगी तो वह साकार ही हो सकती है। वस्तु निर्माण के लिए निमित्त, उपादान कारण आवश्यक है। ब्रह्म की मूर्ति बनाने में निमित्त कारण निर्माता और उपादान कारण पदार्थ, (जिससे वस्तु निर्मित की जाएगी) आवश्यक है। अतः निर्मित वस्तु साकार ही होगी यानी उसका नाम-रूप होगा और जो तत्त्व यानी उपादान कारण पर टिका रहता है। उसको निकाल देने पर कुछ नहीं बचता।

स्मरणीय श्लोक—

उलटा पीपल का वृक्ष—1, 2, 3

अध्याय 16

नामकरण : देवासुरसम्पद्विभागयोग

विषय-वस्तु : गीता के समाज दर्शन में प्रकृति के तीन गुणों के आधार पर समाज के नानाविध लोगों की मानसिक रचना दर्शायी गई है (14वां अ.)। फिर

अध्याय 15 में तीन गुणों के बंधन वाली प्रकृति का चक्र और उसके परे पुरुष एवं पुरुषोत्तम का दिग्दर्शन कराया गया है। जब जीव सर्वत्र पुरुषोत्तम का दर्शन करने लगता है तब उसमें दैवी गुण प्रकट होने लगते हैं। इसलिए पुरुषोत्तम योग के पश्चात् इन दैवी गुणों की चर्चा 16वें अ. में की गई है।

प्रश्न—हे भगवान्! जब सर्वत्र पुरुषोत्तम दर्शन होने लगेंगे तब मानव को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मिल जायेगा। किन्तु किसी व्यक्ति ने सचमुच पुषोत्तम दर्शन का दिव्य लक्ष्य पा लिया है अथवा केवल ईश्वर दर्शन का ढोंग कर रहा है यह कैसे परखा जा सकता है?

उत्तर—हे अर्जुन! पुरुषोत्तम दर्शन की पूर्ण प्रभा दिव्य गुणों के रूप में प्रकट होती है। जिसने दिव्य दर्शन पाया है अथवा पाने की साधना कर रहा है उसके व्यवहार में दैवी गुणों का प्रकाश आ जाता है। उन लक्षणों से पता लगता है कि वह दिव्य साधक है अथवा ढोंगी मात्र है।

प्रश्न—हे भगवान्! वे दैवीय गुण कौन-से हैं?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्योदय होने से पहले इसकी प्रभा पूर्व दिशा में फैल जाती है। उसी प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन से पूर्व साधक के जीवन में कुछ दिव्य गुणों की छटा अपने आप परिलक्षित होने लगती है—

(क) अभयम्—निर्भयता—यह सब गुणों का सर्वप्रथम दैवीय गुण है। यह दैवीय सम्पद का सेनापति है। यदि सेनापति ही हार जाए तो सारी सेना भी बेकार हो जाती है। जिसमें सब दैवीय गुण हैं पर निर्भयता नहीं है उसके सब गुण वृथा चले जाते हैं। यदि किसी में भक्ति, विनय, शास्त्रज्ञान, धन, बल, माधुर्य, कला है, सब गुण हैं पर सत्य को सत्य कहने की हिम्मत नहीं या ध्येयपथ पर बढ़ने की निर्भयता नहीं है तो वह कभी भी लक्ष्य को नहीं पा सकेगा।

भय के प्रकार—रोग का भय, बदनामी का भय, गुलामी का भय, स्वजन की मृत्यु का भय, अपनी मृत्यु का भय, व्यापार में क्षति का भय, प्रतिष्ठाहनन का भय, निन्दा का भय, अपमान का भय, भूत-प्रेत से भय, पुनर्जन्म का भय, निम्न योनि में पतन का भय, अनिश्चित भविष्य का भय आदि। भय का मुख्य कारण कर्तव्यच्युति, अज्ञान, तन-मन की दुर्बलता एवं अपराध है।

सत्त्व संशुद्धि—अन्तःकरण की शुद्धि। जब मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से कोई काम करता है तो उसके मन में किसी के प्रति मोह, ममता का मालिन्य नहीं रहता। शंकराचार्य ने चित्त शुद्धि के लिए निष्काम कर्मयोग अनिवार्य बताया। महर्षि पतंजलि ने इसके लिए योगशास्त्र लिखा है। गीता में कहा है कि यदि सत्त्व संशुद्धि हो तो सारी दुनिया की हत्या करने से भी पाप नहीं लगेगा। एक डॉक्टर और हत्यारे

के बाह्य कर्म में समानता के होते हुए भी भाव संशुद्धि के कारण डॉक्टर निर्दोष और हत्यारा अपराधी है।

ज्ञान योग व्यवस्थित—ज्ञान और योग (= कर्मयोग) का समुच्चय एक दैवी गुण है। दान एक प्रकार का विश्व कल्याण यज्ञ है। दान से मनुष्य उदार, परोपकारी बनता है और दान के अभाव से स्वार्थी एवं लोभी बनता है। द्रव्य दान की अपेक्षा विद्यादान श्रेष्ठ है और सर्वोपरि दान अध्यात्मविद्या का है। भारत में आज भी दान की मात्रा अधिक किन्तु उसका सामाजिक सदुपयोग बहुत कम है। 56 लाख साधुओं के दैनिक भोजन में कम से कम सवा करोड़ रुपया दैनिक दान खाते में लगता है। उसके अतिरिक्त कई लाख भिखारियों अथवा विधवाओं आदि पर बहुत बड़ा दैनिक व्यय होता है। इस दैनिक ढाई-तीन करोड़ रुपये के दान का सामाजिक सदुपयोग कुछ भी नहीं है। दान के सहारे पलकर कुछ मठाधीश बन गए हैं और कुछ दान के अभाव में भूखों मर रहे हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जो दान भावना का शोषण करके आलसी और निकम्मे बन गए। इसके विपरीत ईसाइयों का दान मात्रा में कुछ कम होने पर भी व्यवस्थित होता है जिसका सामाजिक सदुपयोग उनके हित में बड़ा लाभकारी होता है।

दम-इन्द्रिय निग्रह, यज्ञ भावना, स्वाध्याय (स्व—अर्थात् आत्मा का अध्ययन) तप—किसी महत् कार्य के लिए कष्ट उठाना, आर्जव-सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, निंदा-चुगली का अभाव, भूत दया, लोभहीनता, कोमलता, लोक लज्जा, चंचलता का अभाव—तेज, क्षमा, धीरज, पवित्रता, अद्रोह, अधिक मान का अभाव ये सब दैवी सम्पत्ति पुरुष के लक्षण हैं। जिनमें इन गुणों की प्रभा प्रकाशित होने लगे उसे प्रभु रूपी सूर्य के दर्शन का लाभ होगा ही होगा। इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रश्न—हे भगवान्! इसके विपरीत लक्षण वाले पुरुष कैसे होते हैं?

उत्तर—हे अर्जुन! इसके विपरीत आसुरी सम्पद के लक्षण हैं। दम्भ (पाखंड), दर्प (घमण्ड), अभिमान (अपने को शरीर मानते रहना), क्रोध, कठोर वाणी, अज्ञान, आसुरी सम्पद के लक्षण हैं। वे नास्तिक लोग मानते हैं कि बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से सारा संसार पैदा हो गया। वे कामी, क्रोधी, सैकड़ों आशाओं की डोरी से बंधे हुए बहुत-सी वस्तुओं का संग्रह करते हैं। यह सोचते हैं कि इस व्यक्ति को आज मारा। उसको कल मारूंगा। मैं ही ईश्वर हूं, भोगी, सिद्ध हूं। इस प्रकार मनमाने आचरण करने वाले शास्त्र-विधि छोड़कर भटकते रहते हैं।

विशेष : इस अध्याय में भगवान् ने सच्चे साधक के लक्षण, आदर्श कर्मयोगी के गुण दर्शाये और साथ ही नास्तिक, भोगी, ढोंगी, पाखण्डी लोगों के

लक्षण भी बता दिए ताकि कर्मयोगी आसुरी सम्पद से बचकर दैवीय सम्पत्ति को ग्रहण करे। दैवीय सम्पत्ति वाले मानो देवता बन जाए और धरती स्वर्ग।

दैवीय सम्पद में अभय को प्रथम गुण बताया गया है। किन्तु, अन्तिम गुण विनयशीलता, अभिमान-शून्यता को बताया गया। दैवीय सम्पत्ति रूपी सेना के आगे अभय रूपी गुण सेनापति के समान होना चाहिए और विनम्रता, विनयशीलता का गुण सेना की पीछे से रक्षा करने के लिए चाहिए।

आदर्श कर्मयोगी निर्भय रहे किन्तु अभिमानी न बने। कई दुष्ट लोग निडर होते हैं पर अभिमान के विष से जले रहते हैं। निर्भय हो और इतना हो कि सत्य के लिए यम से लड़ जाए पर अभिमान न हो कि मैं कर रहा हूं। सब कुछ ईश्वर कर रहे हैं।

स्मरणीय श्लोक—

दैवी सम्पद्—1, 2, 3

आसुरी सम्पद्—4, 5, 12, 13, 14, 15, 16

अध्याय 17

नामकरण : श्रद्धात्रयविभागयोग या साधक का कार्यक्रम—

विषय : श्रद्धा का महत्त्व और तीन गुणों के अनुसार त्रिविध श्रद्धा, तीन प्रकार के तप, तीन प्रकार के यज्ञ, तीन प्रकार के दान, ओम्तत्सत् का अर्थगौरव यह सब कुछ सत्रहवें अध्याय में वर्णित है। जल में प्रतिदिन किया हुआ स्नान मनुष्यों के केवल शारीरिक मल का त्याग कराता है किन्तु गीताशास्त्र के ज्ञान जल के स्नान से संसार मल का नाश होता है।

प्रश्न—हे भगवान्! आपने बताया कि जो आसुरी सम्पद वाले शास्त्रविधि को छोड़कर मनमानी करते हैं वे न इहलोक में सुखी है और न परलोक में परमगति पाते हैं। किन्तु हे भगवान्! जो शास्त्रविधि को नहीं जानते किन्तु श्रद्धालु अवश्य है उनकी निष्ठा कैसी है?

उत्तर—सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के आधार पर जैसे बाह्य प्रकृति, अन्तःप्रकृति मानव की मनोवैज्ञानिक शैलियां बंटी हुई है, उसी प्रकार श्रद्धा भी तीन प्रकार की है। वास्तविक मानव को उसकी अन्दर की श्रद्धा से ही पहचाना जाता है।

बाह्य प्रकृति—ब्राह्ममुहूर्त में सत्त्व गुणी, दिन में परिश्रम के समय रजोगुणी, रात्रि में निद्रा के समय तमोगुणी।

अंतःप्रकृति—ब्राह्ममुहूर्त में शान्त, निर्मल बुद्धि, सुख, दिन में दुर्धर्ष कर्म, संघर्ष, परिश्रम, कठोर कर्म, तप सकाम, रात्रि में निद्रा, आलस्य (प्रातः), प्रमाद (दिन में)।

मानव प्रकार—सत्त्वगुणी—संत, ज्ञानी, परमहंस, संन्यासी, वैरागी।

रजोगुणी—(क) तमोन्मुखी रजोगुण—आततायी (ख) सत्त्वोन्मुखी रजोगुण—विजेता, राष्ट्रनिर्माता, अवतार।

तमोगुणी—आलसी, भिखारी, व्यसनी।

(क) पंगु—आलसी, कंगाल—आलसी, (रुंड)।

(ख) धनवान—आलसी, व्यवसायी—आलसी (मुण्ड)।

पूजा त्रय

(क) सत्त्व गुणी—देव पूजा।

(ख) रजोगुणी—यक्ष और राक्षस की पूजा।

(ग) तमोगुणी—भूत-प्रेत की पूजा।

आहार—सत्त्वगुणी—आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख प्रीति को बढ़ाने वाला, रसयुक्त चिकने और अधिक देर तक भोजन सार का प्रभाव रखने वाला और मन को प्रिय लगने वाला सात्त्विक आहार है।

शंकराचार्य के मत में रसना के अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के संस्कार प्राप्त किए जाते हैं। वे आहार ही हैं।

आंख द्वारा पवित्र दर्शन।

कान द्वारा पवित्र श्रवण।

नासिका द्वारा पवित्र गंध।

जिह्वा द्वारा पवित्र भोजन।

त्वचा द्वारा पवित्र स्पर्श।

आहार= इन्द्रियों द्वारा विषयों का आहरण (लेना)। सब इन्द्रियों से सात्त्विक संस्कार प्राप्त करें।

रजोगुणी आहार—कटु, अम्लीय, कड़वा, बहुत लवण युक्त, तीखा, रूखा, दाहकारक, दुःख, चिन्ता और रोग उत्पन्न करने वाला आहार राजस है। आंख के द्वारा संघर्ष के चित्र, कामुक, मादक चित्र, युद्ध का दृश्य, काम भड़काने वाला दृश्य। कान द्वारा काम भड़काने वाली गाथा का श्रवण। नासिका द्वारा तेज, मादक गंध, वाणी द्वारा झगड़े झंझट, संघर्ष की चर्चा। रसना द्वारा मसालेदार भोजन।

त्वचा द्वारा कामोद्दीपक स्पर्श। क्लब में मद्यपान कर परायी स्त्रियों के साथ नाचना, हाथ मिलाना, आलिंगन, चुम्बन इत्यादि करना।

तमोगुणी आहार—बासी, आधा पका, रस रहित, दुर्गन्ध युक्त, पुनः गर्म किया हुआ, जूठा, अपवित्र आहार तामस है।

आंख द्वारा मादक, निद्रालु, प्रमादी, आलस्यपूर्ण चित्रों को देखना। प्रमादी, अश्लील चरित्रों से सम्बन्धित पुस्तकों को पढ़ना।

कान द्वारा ऐसी ही तमोगुणी घटनाओं या कथाओं को सुनना, वाणी द्वारा तमोगुणी घटनाओं की चर्चाएं एवं गप-शप करना।

नासिका द्वारा प्रमाद, आलस्य, निद्रा बढ़ाने वाले मादक पदार्थ सूंघना। आधी बेहोशी को सुख मानना। त्वचा द्वारा माया फैलाने वाले तमोगुणी स्पर्श करना। भयंकर मादक पदार्थ पी हुई नायिका द्वारा फौज के सेनापति को थपकियां देकर सुलाना, गद्दों की माया, फूलों की माया, नरम घास, बगिया, सुन्दरियां देखना और उनमें फंस जाना।

कोई नरम गद्दों में, कोई पुष्प शय्या में, कोई मधुबाला के आलिंगन में, निद्रा के आलस्य में बद्ध हो जाता है।

यज्ञ के प्रकार

सात्त्विक—निष्काम भाव से शास्त्रविधि के अनुसार मन के समाधान के साथ किया हुआ यज्ञ सात्त्विक होता है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन यज्ञ, राणा प्रताप का जीवन यज्ञ, महाराजा रघु का सर्वस्व दान यज्ञ।

राजस—जो यज्ञ दिखावे के लिए या फल के उद्देश्य से किया जाता है वह सकाम यज्ञ राजस कहा जाता है। जैसे पुत्र कामना के लिए यज्ञ।

तामस—जो शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान रहित, बिना मित्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किया जाता है वह तामस यज्ञ कहलाता है। जैसे मेघनाथ द्वारा मांस-रक्त की आहुतियों से राम-लक्ष्मण के नाश हेतु किया गया यज्ञ। तंत्र पद्धति के यज्ञ जो दूसरे को मारने, उच्चाटन एवं सम्मोहन के लिए किये जाते हैं। वे सब तामस यज्ञ कहलाते हैं।

(1) तप के तीन प्रकार—सात्त्विक तप वह कष्ट सहन करने की सिद्धता है जिसके द्वारा तमोगुण और रजोगुण दबकर सत्त्व गुण का विकास होता है यह सात्त्विक तप तीन प्रकार का है—

(क) शारीरिक तप (तपस्या)—देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् का पूजन, शरीर की पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा।

(ख) वाङ्मय तप—वाणी से उद्वेगकारी वाक्य न बोलना। सत्य, प्रिय और हितकारी वचन बोलना, स्वाध्याय का अभ्यास।

(ग) मानस तप—मन की प्रफुल्लता, शांत भाव, मौन, मन का निग्रह और अंतःकरण की पवित्रता।

(2) राजस तप—सत्कार, मान, पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड के लिए किया जाने वाला अनिश्चित और क्षणिक फल देने वाला तप राजस तप। जैसे किसी राजनीतिक कार्यकर्ता द्वारा भूख हड़ताल, अनशन, किसी राजनीतिक स्वार्थ के लिए आत्मदाह की धमकी।

(3) तामस तप—जो तप मूर्खतापूर्वक, हठ से, मन-वाणी और शरीर की पीड़ा और दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है वह तामस तप कहलाता है। जैसे पंचाग्नि तप, कांटों की शय्या पर लेटना, वृक्ष से उलटा लटकना, अपना अंगच्छेद कर इष्टदेव को चढ़ाना, अति अविवेकपूर्वक भूख हड़ताल द्वारा अपने शरीर और स्वास्थ्य को नष्ट करना।

दान के प्रकार—(क) सात्त्विक—जो दान कर्तव्य भावना से देश-काल-पात्र का विचार करके बिना बदले में उपकार की इच्छा के दिया जाता है वह दान सात्त्विक है। जैसे—भामाशाह ने राणा प्रताप को अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे दी।

(ख) राजसी दान—इसमें देश-काल-पात्र का विचार है पर दबाव के कारण जो बदले में, उपकार के प्रयोजन से अथवा फल के उद्देश्य से क्लेशपूर्वक दान किया जाता है जैसे चंदा, चिट्ठा आदि में जो दान दिया जाता है। वह राजस दान है।

(ग) तामसी दान—देश-काल-पात्र के विचार के बिना कुपात्र को तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है। जैसे भिखारी के पीछे पड़ जाने पर पिंड छुड़ाने के लिए पैसा फेंक देना। भांग, चरस, गांजा पीने वाले साधुओं को दान देना।

त्याग के प्रकार—(क) सात्त्विक त्याग—शास्त्रविधि नियत कर्तव्य कर्म को करते हुए कर्म में आसक्ति और फल का त्याग सात्त्विक त्याग है।

राजस त्याग—दान के समान लोक प्रतिष्ठा अथवा लोक लाज अथवा किसी फल की प्राप्ति हेतु त्याग राजस त्याग है।

तामस त्याग—अज्ञानपूर्वक, मोहजनित, अनिच्छापूर्वक, किसी क्षुद्र उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया गया त्याग तामस कहलाता है। किसी विषय के चक्र में फंस कर सम्पत्ति त्यागना। नाचने वाली पर प्रसन्न होकर उसको सम्पत्ति दे देना। किसी के नाश के लिए वैर भाव से उसके विरुद्ध मामला-मुकदमा लड़ते हुए झोंक में

आकर सम्पत्ति त्याग देना। दुर्योधन का त्याग वैर भाव (कर्ण को अंगदेश का राजा बनाना) का त्याग था।

ओम्तत्सत्—समर्पण का मंत्र है। ओम् का अर्थ है परमात्मा। तत्—वह अर्थात् सृष्टि से अलिप्त, सत् का अर्थ है शुभ मंगलमय प्रत्येक समर्पण।

ओम्तत्सत्—समर्पण मंत्र के साथ होना चाहिए।

वह परमेश्वर ही सत् है। इस सारी सृष्टि का स्वामी होते हुए भी वह इससे अलिप्त है। वही एकमात्र सत् वस्तु है। मैं साधक हूं वह भगवान् है और सारी सृष्टि उसकी पूजा की सामग्री है।

विशेष : बुद्ध की पहचान करुणा से, महावीर की जीवदया से, राम की मर्यादा पालन से, हरिश्चन्द्र की सत्य निष्ठा से ही हो सकती है। इस श्रद्धा को छोड़कर इन महापुरुषों में कुछ बचता ही नहीं। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो—17/3, गीता

श्रद्धा ही वास्तविक परिचय है और शरीर के भीतर सच्चा मानव श्रद्धा ही है। जैसी श्रद्धा वैसा व्यक्ति। श्रद्धा ही वास्तविक मानव है।

इस अध्याय में तीन गुणों के आधार पर यज्ञ, दान, तप का विश्लेषण करके फिर सात्त्विक यज्ञ, दान, तप को भी 'ओम्तत्सत्' मंत्र के साथ ईश्वरार्पण बुद्धि से करने का दिव्य संदेश दिया गया है।

स्मरणीय श्लोक—

श्रद्धा—3

आहार शुद्धि—7, 8, 9, 10

सात्त्विक यज्ञ—11, 12, 13

मानस तप (भाव से शुद्धि)—16

दान के तीन रूप—20, 21, 22

अध्याय 18

नामकरण : मोक्षसंन्यासयोग

विषय-वस्तु : यह गीता रूपी भवन का स्वर्ण कलश है। इसमें सम्पूर्ण गीता के चुने हुए सिद्धान्तों के सार का पुनः कथन किया गया है।

(क) संन्यास और त्याग के विषय में सांख्य मतानुसार विवेचन।

(ख) कर्म के पांच हेतु—त्रिविध कर्म, त्रिविध ज्ञान, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख।

चार वर्णों के धर्म। ज्ञान निष्ठा। प्रभु शरणागति सहित निष्काम कर्मयोग।

प्रश्न—हे भगवान्! संन्यास और त्याग में सूक्ष्म भेद क्या है?

उत्तर—हे अर्जुन! कितने ही विद्वान् काम्य कर्मों के न्यास (त्याग) को संन्यास कहते हैं। और बुद्धिमान् लोग कर्मों को ही न त्यागते हुए सब कर्मों के फल त्याग को ही सच्चा त्याग मानते हैं।

प्रश्न—क्या जो संन्यासी कर्मों को त्याज्य मानते हैं उन्हें यज्ञ, दान, तप, कर्म भी त्याग देना चाहिए?

उत्तर—हे अर्जुन! मेरा निश्चित मत है कि यज्ञ, दान, तप (और निष्काम कर्मयोग) पवित्र करने वाले हैं। इसलिए यह नहीं त्यागना चाहिए। तप द्वारा शरीर का ऋण, दान द्वारा समाज का ऋण और यज्ञ द्वारा सृष्टि का ऋण चुकाया जाता है। यज्ञ, दान और तप को सात्त्विक बनाकर इनका फल भगवान् के लिए त्याग देना चाहिए।

प्रश्न—कर्म के हेतु क्या हैं? हे भगवान्! कर्ता कौन है?

उत्तर—सांख्य सिद्धान्त में कर्म के पांच हेतु माने गए हैं। अधिष्ठान (आधार), कर्ता, करण (इन्द्रियां), नाना प्रकार की चेष्टायें और दैव। शरीर, वाणी और मन द्वारा जो भी कर्म हो रहे हैं उनमें यही पांच हेतु हैं।

हे अर्जुन! कर्म करने में यही पांच हेतु हैं फिर भी विवेक बुद्धि विहीन व्यक्ति असङ्ग एवं साक्षी आत्मा को कर्ता मान लेते हैं। मैं तो कर्ता नहीं हूं पर मैं कार्य करता हूं ऐसे अभिमान वाला अन्तःकरण ही कर्ता माना जाता है। जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है और जल के चंचल होने से सूर्य का बिम्ब कटा-फटा दिखाई देता है और बाल बुद्धि वाले व्यक्ति प्रतिबिम्ब को देखकर ये कहें कि सूर्य टूट-फूट गया है। उसी प्रकार कर्म तो अहंकार युक्त अंतःकरण करता है किन्तु अध्यास के वशीभूत होकर आत्मा का परिचायक मैं शब्द का प्रयोग करता रहता है। अतः हे अर्जुन! कर्तापन का अहंकार छोड़ देवे और कर्म में बुद्धि लिप्त न होवे वह शुद्ध चित्त से कर्तव्य पालन करता हुआ यदि समस्त प्राणियों को भी मार डाले तो भी वह नहीं मारता और न ही वह कर्मों के बंधन में फंसता है। जैसे दण्डाधिकारी शुद्ध कर्तव्य भाव से घोर अपराध में लिप्त अपराधी को मृत्युदंड देता है पर हत्यारा नहीं माना जाता। सैनिक बिना व्यक्तिगत राग-द्वेष के राष्ट्रहित के लिए युद्ध भूमि में सैकड़ों-हजारों शत्रुपक्षीय लोगों को मारता है, किन्तु वह नर हत्या के लिए दण्डित न होकर राष्ट्र रक्षा के लिए परमवीर चक्र पाता है।

प्रश्न—हे भगवान्! तीन प्रकार की कर्म प्रेरणा क्या है? और तीन प्रकार के कर्म संग्रह (क्रिया के आश्रय) कौन-से हैं?

उत्तर—हे अर्जुन! बिना ज्ञान के कोई कर्म नहीं हो सकता। तीन कर्म चोदना (प्रेरणा) है—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता।

(क) ज्ञान—विषय का ज्ञान, लक्ष्य का ज्ञान, क्रिया का ज्ञान, मार्ग का ज्ञान।

(ख) ज्ञेय—जानने योग्य वस्तु।

(ग) ज्ञाता—परिज्ञाता, अन्तःकरण उपाधि से परिकल्पित भोक्ता।

कर्म के तीन संग्रह अर्थात् तीन आश्रय हैं—

(क) करण—इन्द्रियां—5+5+4 (पांच ज्ञानेंद्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां एवं अन्तःकरण चतुष्टय)।

(ख) कर्म—वास्तविक क्रिया।

(ग) कर्ता—अहंकार युक्त अंतःकरण।

छह कारक

कर्म संग्रह	कर्ता	1 कर्ता—राम ने
	कर्म	2 कर्म—रावण को
	करण	3 करण—धनुष द्वारा (से)।
कर्म चोदना	ज्ञेय	4 सम्प्रदान—मर्यादा संस्थापना के लिए
	ज्ञान	5 अपादान—प्राण से वंचित कर
	ज्ञाता	6 अधिकरण—शान्ति का राज्य स्थापित किया।

इन कारकों से आत्मा निर्लिप्त एवं असङ्ग रहती है। सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है। सबके नेत्रों को प्रकाश देता है। सबको कर्मों में प्रेरित करता है किन्तु लोगों के नेत्र के दोषों से सदा निर्लिप्त रहता है। उसी प्रकाश से कोई आध्यात्मिक स्वाध्याय करता है और कोई अपवित्र पुस्तकें पढ़ता है, पाप कर्म करता है, सूर्य कमल को भी प्रकाशित करता है और मल को भी प्रकाशित करता है। पर मल और कमल दोनों से अलिप्त रहता है। इसी प्रकार सबके अन्तर में जो आत्मा रूपी चैतन्य है वह उन्हें सत्ता-स्फूर्ति देता है किन्तु उनके अच्छे-बुरे कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

सात्त्विक	राजसी	तामसी
कर्म : जो कर्म शास्त्रविधि से, कर्तापन के अभिमान से रहित, बिना फल की इच्छा के, बिना राग-द्वेष के किया जाता है वह कर्म सात्त्विक होता है।	जो कर्म बहुत परिश्रम से, फल की इच्छा से युक्त, अहंकार से युक्त राजस कर्म कहलाता है।	ज्ञान रहित, परिणाम—हानि, हिंसा, सामर्थ्य का विचार बिना किया जाने वाला कर्म तामस है। इसमें सामर्थ्य का विचार नहीं होने के कारण कार्य पूरा हो

		ही नहीं पाता। अधूरा छूट जाता है। परिणामस्वरूप कार्य के लिए की गई सारी मेहनत बेकार जाती है।
कर्ता : आसक्ति रहित, अहंकार रहित, धैर्य और उत्साह से युक्त, हर्ष-शोक में सम, निष्काम कर्मयोगी सात्त्विक कर्ता कहलाता है। इसका परिणाम शान्ति, चित् की प्रसन्नता, समवृत्ति ही है।	आसक्ति युक्त फल का लोभी, दूसरों को कष्ट देने वाला, पशु धर्मचारी, हर्ष शोक से लिपायमान होने वाला कर्ता राजस कहलाता है। इसका परिणाम लोभ, मोह, हिंसा द्वेष, संघर्ष, अशान्ति है।	विक्षिप्त चित्त वाला, मूर्ख, घमण्डी, धूर्त, निकम्मा, आलसी, दूसरों की आजीविका का नाशक, दीर्घ सूत्री, कामी, टाल-मटोल करने वाला तामस कर्ता है।
बुद्धि : जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय, बंधन और मोक्ष को तत्त्व से जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है।	जिस बुद्धि से धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का यथार्थ बोध नहीं होता—जैसे अर्जुन की जिज्ञासा, वह राजसी बुद्धि है।	बुद्धि—जो अज्ञान एवं अहंकार से भरी हुई बुद्धि अधर्म को धर्म मान लेती है और अर्थ का अनर्थ करती है वह बुद्धि तामसी है। जैसे दुर्योधन का दुष्कर्म।
धृति : धीरज—मनु भगवान् ने धर्म के 10 लक्षणों में सबसे प्रथम धृति को गिना है। तुलसीदास कहते हैं—धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद् काल परखिये चारी। धृति दैवी सम्पद है।		
धारणा : जिस अव्यभिचारी धारणा से ध्यानयोग द्वारा मनुष्य मन, प्राण, इन्द्रियों को भगवान् के ध्यान में लगाता है वह सात्त्विक है।	फल की इच्छा से अति आसक्ति, धर्म-अर्थ काम को धारण करने वाली धारणा राजस है।	दुष्ट व्यक्ति द्वारा निंदा, भय, चिंता, दुःख, नशा, उन्मत्तता को धारण करने वाली धारणा तामस है।

सुख : जो प्रारम्भ में विष के समान कड़वा लगे। परिणाम में अमृत के तुल्य हों और आत्म बुद्धि की कृपा से उत्पन्न हुए हों वह सुख सात्त्विक है—श्लोक 37

जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से होता है और भोग काल में अमृत के समान भासता है और परिणाम में विष के समान है वह राजस सुख है—श्लोक-38

जो सुख निद्रा, आलस्य, प्रमाद से उत्पन्न हुआ, भोग काल में और परिणाम काल दोनों में व्यक्ति को मोहित करने वाला है वह तामस सुख। यानी प्रारम्भ से अन्त तक मोहित करने वाला सुख।

प्रश्न—हे भगवान्! चार वर्णों के स्वधर्म क्या-क्या हैं?

उत्तर—(क) ब्राह्मण का स्वधर्म—मन-इन्द्रिय का निग्रह, बाहर-भीतर की शुद्धि, तपस्या, सरलता, क्षमा, अस्मिता, शास्त्रज्ञान और ब्रह्म तत्त्व का अनुभव।

(ख) क्षत्रिय—शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में दृढ़ता, दान, राज्य पालन, प्रजा पालन।

(ग) वैश्य—कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य कर्म।

(घ) शूद्र—परिचर्या (अन्य वर्णों की सेवा), श्रमिक, किसान, हलवाहा, चमार, बढ़ई, रथवान, कुम्हार आदि के कर्म।

हे अर्जुन! अपना स्वधर्म यदि कम गुण वाला, कम चमक-दमक वाला दिखाई देता है तो भी वह दूसरे के सजधज वाले धर्म की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी है। स्वधर्म तो माता के समान है। माता कंगाल हो या कुरूप हो तो भी हमारे प्रति जो कल्याण भावना उसके मन में है वह किसी धनवान एवं रूपवान अन्य स्त्री के मन में नहीं हो सकती।

इसलिए धर्म की तुलना मां से की गई है। मनुष्य आजकल पदों एवं सम्बन्धियों का चुनाव करने लगा है। पंच, सरपंच, मुखिया, विधायक, संसदसदस्य, मंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, मित्र, साझेदार, पति-पत्नी, मालिक-नौकर—सबका चुनाव किया जा सकता है। किन्तु हम कभी अपनी मां का चुनाव नहीं कर सकते। क्योंकि उसी ने हमारा चुनाव करके हमें धारण किया है। इसी स्वधर्म की गोदी में हमने जन्म लिया है। हमें उसके चुनाव का या बदलने का अधिकार नहीं। हमारा एक ही कर्तव्य है कि हम अपने प्राण से स्वधर्म का पालन करें। उदाहरण—गो को घास खिलाना, मछली को पानी में रखना। इनके घटिया धर्म में ही इनका कल्याण है। स्वधर्म जन्म के साथ ही आता है, आरोपित नहीं किया जा सकता। बाद में अंगीकार किया हुआ नहीं, बदला हुआ नहीं, वह तो जन्म से ही निश्चित है। गाय को रसगुल्ला खिलाना और मछली को दूध में रखना अधर्म है।

प्रश्न—हे प्रभु! ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त के लक्षण क्या हैं?

उत्तर—**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ 18/54, गीता

(1) वह विद्वान् जिसने वेदों में वर्णित ब्रह्म के ज्ञान को सुना है।

(2) ब्रह्मनिष्ठ वह है जिसकी सम्पूर्ण निष्ठा या श्रद्धा ब्रह्म में केन्द्रित हो गई है।

(3) ब्रह्मभूत वह है जिसने अपनी अनुभूति द्वारा ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त कर लिया।

(4) प्रसन्नात्मा—ऐसा व्यक्ति सदा प्रसन्न रहता है।

(5) न शोचति—वह किसी वस्तु के प्रति शोक नहीं करता।

(6) न काङ्क्षति—वह शोक इसलिए नहीं करता क्योंकि उसे किसी वस्तु की आकांक्षा ही नहीं है—

चाह गई चिन्ता गई मनवा बेपरवाह
जिनको कछु नहीं चाहिए सो शाहन के शाह।

(7) समः सर्वेषु भूतेषु—वह सब भूत प्राणियों में समान एक ब्रह्म का ही दर्शन करता है।

प्रभु शरणागति सहित निष्काम कर्मयोग—हे भगवान! अब अन्त में मेरे लिए आदेश क्या है? आपने ब्रह्मभूत ज्ञानी की इतनी महिमा गाई। तीन अध्यायों में कर्मयोग का विशेष आख्यान किया। शेष सभी अध्यायों में पुनः कर्मयोग और स्वधर्म पालन की प्रेरणा आप देते रहे। कर्मयोगी बनने हेतु मन के निग्रह के लिए ध्यानयोग बताया। अव्यक्त की उपासना बताई, फिर व्यक्त-सगुण की उपासना भी समझाई। नवम् अध्याय में आपने नर में छिपे नारायण का दिग्दर्शन कराया। दशम् में आपने सृष्टि में सृष्टा की विभूति दर्शायी, एकादश में आपने सृष्टा के विराट् रूप में सारी सृष्टि को एकत्र दिखाया। फिर सगुण भक्ति का कर्म में प्रतिफलन समझाया। फिर ज्ञान योग में आत्म-अनात्म का भेद समझाया, फिर पुरुष की लीला, प्रकृति के तीन गुण, मानव के प्रकार, श्रद्धाओं के स्तर आदि समझाये। पुरुष-प्रकृति से परे, पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन भी किया। सृष्टि, समाज और शरीर का ऋण चुकाने के लिए यज्ञ, दान और तप का महत्त्व भी बताया। यज्ञ भावना से कर्म करने के लिए आदर्श कर्म और आदर्श कार्यकर्ता के लक्षण भी बताए और अब ब्रह्मज्ञानी का स्वरूप भी समझाया। अब आप ही बताइये मेरे लिए क्या करना योग्य है?

हे अर्जुन! ईश्वर सब भूतों के हृदय में विराजमान है। वह अन्दर से सबको ऐसे चला रहा है जिस प्रकार यंत्र पर कसे हुए कलपुर्जे यंत्र के साथ घूमते हैं।

इसलिए उसी हृदय मंदिर में स्थित ईश्वर की शरण में जाओ, सम्पूर्ण भाव से उसके प्रति अपने आपको समर्पित कर दो। वे अन्तर्यामी अन्दर से ही आपका मार्गदर्शन करेंगे।

अपने तन से मुझ परमेश्वर को नमस्कार करो।

अपने मन से मुझ परमेश्वर का मनन करो।

अपने धन से मुझ परमेश्वर का यजन (यज्ञ) करो।

मन की तार मेरे से जोड़े रखो।

बुद्धि से मेरा चिन्तन करो।

अपने सब कार्य मुझे समर्पित कर दो।

प्रभु के दिए तन, प्रभु के दिए मन, प्रभु के दिए धन से, प्रभु की दी हुई इन्द्रियों से, प्रभु की दी हुई बुद्धि के प्रकाश से, प्रभु की दी हुई आत्मा की ज्योति से, प्रभु के बनाए जगत् में, प्रभु के उत्पन्न किए हुए जीवों के प्रति प्रभु के आदेशानुसार अन्तर्यामी प्रभु की प्रेरणा से जो कर्तव्य कर्म किए जाते हैं उन कर्मों के पुष्पों से भगवान् की पूजा करके और कर्मों का फल भगवान् के चरणों पर नैवेद्य रूप में चढ़ाकर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त करता है—श्लोक 46

अतः हे अर्जुन! यदि कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में तुम्हें कोई भी शंका बाकी हो तो सब धर्म-अधर्म के बखेड़े को छोड़कर तू मेरी शरण में आ जा। मैं अन्तर्यामी तुझे उचित कर्तव्य में प्रेरित कर, कर्तव्य पालन करवा लूंगा और तुझे कोई भी पाप छू नहीं सकेगा। जब तक जीव अपने अहंकार से युक्त अंतःकरण द्वारा कोई कर्म करता है तब तक वह कर्मों के जंजाल में फंसा रहता है और कर्म बंधन में बंध जाता है। जब ईश्वर के प्रति समर्पित बुद्धि से कर्म करता है तब ईश्वरीय ज्ञान उसे सतपथ दिखाता है। ईश्वर भक्ति उसकी निष्ठा को बनाए रखती है। ईश्वरीय शक्ति उसे महान् बल देती है। वह ईश्वरीय न्याय का यंत्र बन जाता है। उसका कर्म ईश्वरीय कर्म बन जाता है। और ईश्वरीय कर्म का फल ईश्वर को ही पहुंच जाता है। जीव कर्म के बंधन से और कर्मफल की वासना से मुक्त हो जाता है।

(1) भूमिका—अर्जुन का व्यामोह

(2) जीवन शास्त्र, जीवन कला (नींव)

(3) कर्मयोग

(4) ज्ञान कर्म संन्यास योग (अकर्म दशा)

(5) ज्ञान कर्म समुच्चय

} अ. 2 से 5 तक सम्पूर्ण सिद्धान्त कथन

(6)	साधन—ध्यान योग	आदर्श कर्मयोगी बनने हेतु साधन-1 निर्गुणोपासना
(7)	अव्यक्त भक्ति	
(8)	सातत्ययोग (निरन्तर साधना)	
(9)	सम्पूर्ण समर्पण योग (राजयोग)	आदर्श कर्मयोगी साधन-2 सगुणोपासना
(10)	भगवत् या विभूति योग (प्रत्येक भिन्न वस्तु में वही)	
(11)	विश्व दर्शन योग (सब मिलकर वह एक है)	
(12)	सगुण भक्ति	
(13)	आत्म-अनात्म विवेक	ज्ञान मार्ग
(14)	गुण त्रय विभाग योग	
(15)	पुरुषोत्तम योग—पूर्ण योग	
(16)	देवासुर संपद विभाग योग	मानव को देवता बनाने वाले दिव्य गुण
(17)	श्रद्धा त्रय विभाग योग	(सत्त्व, रज, तम)
(18)	मोक्ष संन्यास योग	(गीता का सार-संक्षेप) कलश स्थापना।

चर्म (स्थूल)—बुद्बुद, लहर, ज्वार

तर्क दृष्टि—सब में जल तत्त्व का एक सिद्धान्त

विभूति दृष्टि—सब में जल की महिमा

तत्त्व दृष्टि—सबमें एक जल ही जल, जल में ही बुलबुले, बुलबुले में जल।

दिव्य दृष्टि—बिन्दु में सिन्धु। सृष्टा में सारी सृष्टि समाई है।

सिन्धु में बिन्दु तत्त्व, बिन्दु में सिन्धु तत्त्व।

जगत् में ईश्वर तत्त्व दृष्टि

ईश्वर में जगत् दिव्य दृष्टि।

विशेष : इस अध्याय में गीताशास्त्र का अन्तिम निर्णायक वचन कहा गया है। इसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का समन्वय भी कर दिया गया है। गीता के समस्त महान् उपदेशों की रत्नों की सुव्यवस्थित माला पिरो दी गई है और गीताशास्त्र की फलश्रुति भी बता दी गई है। भगवान् कहते हैं जो अन्य भक्तों को मेरे इस परम गुह्य शास्त्र को समझाएगा, उससे बढ़कर मेरा अधिक प्यारा सारे

पृथ्वीतल में दूसरा कोई नहीं होगा, श्लोक 68, 69 गीता की इस पंक्ति ने सेठ जयदयाल गोयन्का को गीताप्रेस की स्थापना के लिए प्रेरणा दी।

गीता के भवन की नींव द्वितीय अध्याय में रखी गई जिसके अध्याय 3, 4, 5 में कर्मयोग के सुन्दर कोष्ठ निर्माण किए गए हैं।

अध्याय छह में ध्यान योग का साधना शिविर है—अध्याय 7, 8 व 9 में अव्यक्त ब्रह्म की प्रणव साधना के प्रमुख प्रासाद हैं।

अध्याय 10 में विभूति का विहार है। एकादश में विश्व व्यापी विराट् का दिव्य दर्शन है। द्वादश में सगुण भक्ति की सुन्दर सरिता है। त्रयोदश में आत्मविवेक की अट्टालिका और चतुर्दश में माया का महल है। पंचदश में पुरुषोत्तम की झांकी है। षोडश में दैवी सम्पद का देवालय है। 17वें में श्रद्धात्रयी की श्रद्धांजलि है और अन्तिम अध्याय में गीता का पावन ज्ञान गुम्फित है। भक्ति भावित कर्मयोग के मन्दिर का स्वर्णकलश है।

दृष्टि	**अनेकता**	**विभाजित विभक्त**	**परस्पर विपरीत द्वंद्वमय**	**नश्वर**	**असम्बद्ध**
चर्म-दृष्टि	✓	✓	✓	✓	✓
तर्क दृष्टि	अनेकता में एकरूपता (एकता नहीं सिद्धान्त में)	विभक्त में कुछ सम्बन्ध	द्वन्द्व अनिवार्य	✓	असम्बद्ध में कुछ सम्बद्ध
विभूति-दृष्टि	अनेकता में एकता का प्रकाश, सर्वत्र दर्शन (स्थूल में सूक्ष्म दर्शन)	विभक्त में अविभक्त	निःर्द्वन्द्व	अविनश्वर	सब कुछ में ईश्वरीय सम्बन्ध
तत्त्व-दृष्टि	अनेकता में एकता	अविभक्त	✓	✓	दूसरा है ही नहीं अतः एक ही एक अद्वैतदर्शन (सम्बन्ध तो एक से अधिक में होता है)

दृष्टि	**अनेकता**	**विभाजित विभक्त**	**परस्पर विपरीत द्वंद्वमय**	**नश्वर**	**असम्बद्ध**
दिव्य-दृष्टि	एकता में अनेकता की लीला। जैसे आकाश बंटा हुआ-सा दिखता है।				

गुण = (1) विशेषता, रस्सी, रज्जु, बंधन। प्रकृति के तीन गुण सत्, रज, तम। तीन गुणों के आधार पर भिन्न-भिन्न अंश में तीनों गुणों को धारण करने वाले व्यक्तियों और वस्तुओं की संख्या असंख्य।

सत्त्व	रज	तम
100	99	99
99	100	99
99		

सगुण= 3 गुणों वाला, अनेक गुणों वाला।

निर्गुण= गुणों से परे, गुणों के बंधन से मुक्त, गुणों की रस्सी से परे।

समस्त गुण प्रभु के हैं, प्रभु पर आश्रित हैं, किन्तु प्रभु को बांध नहीं सकते।

जगत् गुरु शंकराचार्य ने कहा कि ब्रह्म के जो भी गुण बताए जाएंगे उसमें ब्रह्म सीमित हो जाएगा। यदि ब्रह्म कृपालु है तो कठोर कौन है? क्या ब्रह्म के सिवाय और सत्ता भी है? यदि बड़ा है—तो छोटा कौन है? अतः ब्रह्म के निषेधात्मक गुण ही बताये जा सकते हैं—

अजर= न बूढ़ा होने वाला

अमर= न मरने वाला

अविनाशी

अक्षर

निरुपाधि—बिना उपाधि के

अगोचर

अद्वैत

प्रकृति के कार्य

वास्तव में प्रकृति भगवान् की माया शक्ति है। इसी के द्वारा सारा संसार रचा गया है। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्, रज और तम। इन तीनों गुणों और पांच तत्त्वों को लेकर यह प्रकृति सारे संसार को रचती है। अब जितनी भी क्रियायें हो रही हैं चाहे शरीर द्वारा, चाहे इन्द्रियों द्वारा, चाहे मन द्वारा, चाहे बुद्धि द्वारा, चाहे मूल अहंकार द्वारा। ये सब क्रियायें संसार में संसार के पदार्थों के साथ संसार के पांच तत्त्वों के भीतर संसार के अन्य जीवों के प्रति अपने सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के प्रभाव से अन्य लोगों के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए सब क्रियायें हो रही है। इनमें से यदि एक भी वस्तु को कम कर दिया जाए तो कर्म नहीं हो सकेगा। यदि शरीर न रहे तो कर्म नहीं होगा। यदि इन्द्रियां न रहें तो कर्म नहीं होगा। मन न रहे तो कर्म नहीं हो सकता। यदि बुद्धि न रहे तो कर्म नहीं हो सकता। यदि संसार ही न रहे, अन्य कोई व्यक्ति न हो तब भी कर्म नहीं हो सकता। यदि मेरे मन में सत्त्व गुण, रज गुण, तमोगुण न रहे तब भी कर्म नहीं हो सकता। अन्य लोगों में ये तीनों गुण न रहें तब भी कर्म नहीं हो सकता। सृष्टि न रहे तब भी कर्म नहीं हो सकता। पांचों तत्त्वों में से एक भी तत्त्व शेष हो जाए तब भी कर्म नहीं हो सकता। इसलिए सारे कर्म प्रकृति की गोद में, प्रकृति के पांच तत्त्वों के भीतर, प्रकृति के तीन गुणों के घात-प्रतिघात से, प्रकृति के रचे हुए तन द्वारा, इन्द्रिय द्वारा, मन-बुद्धि द्वारा सब कर्म हो रहे हैं। इसलिए प्रकृति सब नृत्य कर रही है। पुरुष केवल द्रष्टा रूप में देख रहा है। इसलिए समस्त कर्म तो प्रकृति कर रही है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। 3/27, गीता

सब कर्म प्रकृति के द्वारा प्रकृति के गुण के अनुसार हो रहे हैं। लेकिन 'अहङ्कारविमूढात्मा'—अहंकार में जो अपने आपको भूला हुआ व्यक्ति है, भूला हुआ मैं है वह 'कर्ताहमिति मन्यते।' वह मान लेता है कर्म मैं ही करता हूं तो व्यक्ति के लिए स्वयं को कर्ता बनने को कोई स्थान ही नहीं बचता। वह कर क्या रहा है। वह कुछ भी नहीं कर रहा है। सब तो प्रकृति ही कर रही है।

सृष्टि का बनना यह सब समष्टि क्रिया से हो रहा है। मानव के शरीर के भीतर भी मां के गर्भ में बीज से बच्चे का विकास मानव के संकल्प से नहीं, यह प्रकृति की समष्टि क्रिया है। मानव के शरीर के भीतर भी इसके अन्दर रक्त का प्रवाहित होना, धमनी का चलना, श्वास गति का चलना, प्राणों का खेल, इस पर पसीना आना यह सब समष्टि क्रिया हो रही है। इसका खाया हुआ भोजन पचना और उसका अवशिष्ट भाग या अवांछनीय भाग फूजला के रूप में या मल-मूत्र के रूप में बाहर निकालना यह समष्टि क्रियायें हैं। मनुष्य को निद्रा आना, सुषुप्ति होना समष्टि क्रिया चल रही है। मनुष्य के संकल्प या विकल्प से विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। लेकिन कुछ क्रिया व्यष्टि क्रियायें हैं। जैसे मनुष्य का भोजन करना, भोजन के लिए प्रयास करना, भोजन के लिए परिश्रम करना, उसका दौड़ना, उसका किसी को पकड़ना, किसी के साथ प्रेम करना, किसी के साथ घृणा करना, किसी के ऊपर आक्रमण करना ये सब व्यष्टि क्रियायें हैं। जीवात्मा भूल से यह समझता है कि समष्टि क्रियायें तो प्रकृति कर रही है। लेकिन व्यष्टि क्रियायें मैं कर रहा हूं। पर वास्तव में समस्त क्रियायें प्रकृति के भीतर ही हो रही है। जो सारी सृष्टि को चला रही है वही प्रकृति मेरे शरीर को भी चला रही है। जो ब्रह्माण्ड को चलाने की शक्ति रखती है तो क्या वह पिण्ड को नहीं चला सकती? पिण्ड और ब्रह्माण्ड को वही चला रही है। पर व्यर्थ में मैं अपना अभिमान घुसाकर कहता हूं कि मैं कर रहा हूं। जब इसका चक्र बंद हो जाए तब बताऊं कि मैं चला रहा हूं, करके दिखाऊं कि मैं चला सकता हूं। मैं एक क्षण तक नहीं चला सकता। डॉक्टर की औषधि एवं डॉक्टर के उपचार तभी तक काम करते हैं जब तक प्रकृति जीवन देती है। प्रकृति के रुष्ट हो जाने पर डॉक्टर और रोगी दोनों ही बिल्कुल अकर्मण्य हो जाते हैं। उनका कुछ वश नहीं चलता। इसलिए समष्टि क्रियाओं के समान व्यष्टि क्रियायें भी इसी प्रकृति के द्वारा हो रही हैं। यह समझ लेने पर मनुष्य का अहंकार बचता नहीं क्योंकि हम उसी प्रकृति के चक्र के भीतर हैं जिससे सारी विराट् सृष्टि में सब कुछ हो रहा है। इसलिए ये सभी क्रियायें उसी के द्वारा हो रही हैं। यह समझ लेना चाहिए। जैसे मंच पर रामलीला होती है। रामलीला में होने वाले नाटक में मुखौटे, धनुष, वेश ये सब पर्दे हैं। रामलीला करने वाले रामलीला करके चले गए हैं। बच्चा जिज्ञासा करता है राम बना था वह कहां है? रावण बना था वह कहां चला गया? हनुमान कहां चले गए? तब समझदार आदमी बच्चे को समझाता है—देखो भाई, राम का धनुष यह पड़ा है, राम का मुकुट ये है, हनुमान का मुखौटा यह है, रावण के दशशीश, वस्त्र-आभूषण ये हैं। इनसे रामलीला हुई थी। जो करने वाले थे वे लोग कुछ क्षणों के लिए मुखौटों को पहन कर लीला किए थे। लीला करके चले गए। सामान यहीं पर है। तो बच्चा पूछता है, क्या मुखौटे ने

मुखौटों से लीला की। तो उसका समझदार बड़ा भाई समझाता है—हां, वास्तव में यही समझना चाहिए। मुखौटों की ही लीला थी। व्यक्ति तो न राम थे, न रावण थे, न हनुमान थे। इस तरह से गुण ही गुणों में खेल कर रहे हैं। और वास्तविक आत्मा, शुद्ध आत्मा निर्लिप्त है। अब अहंकार में शुद्ध आत्मा और लिप्त आत्मा दो शब्द हम प्रयोग करते हैं। आत्मा वास्तव में अलिप्त और शुद्ध ही है। लेकिन यह समझाने के लिए कि शुद्ध आत्मा इस लिप्त जीवात्मा से भिन्न है, ये दो शब्द प्रयोग किये जाते हैं—शुद्ध आत्मा और लिप्त जीवात्मा। शुद्ध मैं और अहंकार आविष्ट मैं। दोनों में अन्तर कर लेना चाहिए। शुद्ध मैं स्वाभाविक है। वह हमारे अपने स्व से ही हमारे अस्तित्व का भाव दे रहा है, इसलिए स्व के भाव को बताने के कारण वह स्वाभाविक है। और जो अहंकारविमूढ़ आत्मा (विमूढ़ात्मा) है वह अस्वाभाविक है। उसका जन्म स्व से नहीं हो रहा है। वह प्रकृति को, या प्रकृति के भीतर अपने शरीर, इन्द्रिय, मन आदि को गलती से मैं समझता है। शुद्ध आत्मा, निर्लिप्त आत्मा, असंग आत्मा नित्य है। सदा रहने वाला है। अहंकार-विमूढ़ आत्मा है यह अनित्य है। जो शुद्ध आत्मा है शुद्ध मैं है, इसको विस्मृत किया जा सकता है थोड़ी देर के लिए भुलाया जा सकता है लेकिन यह मिट नहीं सकता। भूला जा सकता है पर मिट नहीं सकता। लेकिन जो अशुद्ध आत्मा है, जो अहंकारविमूढ़ आत्मा है उसे कुछ देर के लिए माना जा सकता है पर वह टिक नहीं सकता। मान लें थोड़ी देर के लिए, पर वह टिकेगा नहीं क्योंकि वह सत्य नहीं है। इसलिए सत् वस्तु का कभी अभाव नहीं होता और असत् वस्तु सदा टिकी नहीं रह सकती। इसलिए अपने सच्चे मैं और अपने माने हुए मैं में विवेक करके जिसका शुद्ध (आत्मा) मैं टिक जाएगा उसका अहंकार शेष हो जाएगा। अब ये अहंकार जो बना हुआ है इसको मिटाया कैसे जाए? एक गलत मान्यता से हमने मान लिया कि मैं शरीर हूं, मैं मन हूं, मैं बुद्धि हूं, मैं इन्द्रिय हूं, मैं संसार हूं। गलत मान्यता है। और हम आना चाहते हैं इस ज्ञान पर कि हम शुद्ध आत्मा हैं। तो गलत मान्यता को मिटाने के लिए मनुष्य के पास और कोई उपाय नहीं है सिवाय इसके कि वह सही मान्यता के द्वारा गलत मान्यता को मिटाये या गलत मान्यता जो चल रही है उसके विपरीत मान्यता लाए।

निष्काम कर्मयोग

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। 2/47, गीता

(1) इसमें निष्काम कर्मयोग की चतुःसूत्री दी गई है—कर्मण्येवाधिकारस्ते—हे मानव! कर्म करने में तेरा अधिकार है। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है अतः वही उसका अधिकार भी है। प्रकाश करना सूर्य का धर्म है अतः वही उसका कर्म एवं अधिकार भी है। मानव कर्म करने में स्वाधीन है।

(2) मा फलेषु कदाचन—कर्मफल पर तेरा कोई अधिकार नहीं। परीक्षार्थी स्वयं परीक्षक बन जाए तो मूल्यांकन में न्याय कभी नहीं होगा। कर्मफल नियंता परमेश्वर है। सूर्य प्रकाश दूसरों के लिए देता है। नदियां जल तथा वृक्ष फल दूसरों के लिए देते हैं। उनका कर्मफल पर अधिकार नहीं। शरीर के अन्दर भी आँख शरीर की भलाई के लिए देखती है। कान शरीर की भलाई के लिए सुनते हैं स्वयं के लिए नहीं। यदि पेट सारा अन्न रस अपने लिए ही रख ले और उसका रस पूरे शरीर को न भेजे तो रोग से शरीर मरने लगेगा। अतः मानव का कर्मफल पर अधिकार नहीं है। यदि पेट अन्न को मात्र अपने लिए रखना चाहे तो अन्न विष बन जाएगा। यदि वृक्ष फल को अपने लिए ही रखना चाहे तो फलों में कीड़े पड़ जाएंगे। यदि मनुष्य कर्म का फल मात्र अपने स्वार्थ के लिए चाहे तो वह कर्मफल ही उसके लिए फांसी बन जाएगा जिससे उसे 84 लाख योनियों में भटकना पड़ेगा।

(3) मा कर्म फल हेतु भू—फल की वासना से कर्म करने वाला मत बन। फल के लोभ में किया हुआ कर्म स्वार्थ कर्म है, यज्ञार्थ कर्म नहीं। जब फल पर अपना अधिकार ही नहीं तो उसकी अभिलाषा करना पागलपन है।

(क) परीक्षार्थी (उत्तीर्ण होने की आशा से) < सफलता प्राप्त (प्रसन्न) / असफलता (आत्महत्या)

(ख) परीक्षार्थी (कर्तव्य भाव से परीक्षा) < सफलता (गम्भीर) / असफलता (पुनः कर्म में लगना)

Duty should not be weighed in the balance of fruit फल की तुला पर कर्तव्य को कभी नहीं तौलना चाहिए। Duty is for the duty not for some gain.

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'—अकर्म में भी तू संग मत रख। आलस्य या निकम्मापन जीवन में पतन का कारण है। अग्नि यदि जलाने का स्वभाव ही छोड़ दे तो उसे अग्नि कौन कहेगा? मनुष्य यदि कर्म करने का स्वभाव एवं अधिकार छोड़ दे तो वह मनुष्यता से च्युत हो गया।

	कर्म	**कर्म से पहले फल की चर्चा**	**कर्म के बाद फल की चर्चा**
तमो निकम्मा	×	×	×
रजो 1 दलाल	×	✓	✓
रजो 1 व्यापारी	✓	×	✓
सतोगुणी निष्काम कर्मयोगी	✓	×	×

महात्मा गांधी कहते हैं जो कर्म को त्यागता है वह नीचे गिरता है और जो कर्मफल को त्यागता है वह ऊपर उठता है।

गीता के कर्मयोग पर विचार

कर्म ही बंधन का कारण है। कर्म से मनुष्य पांच प्रकार से बंध जाता है। अतः लोग सोचते हैं कर्म से बंधन होता है। अतः कर्म का ही परित्याग कर दो। पर वे यह नहीं सोचते कि कर्म का मूल कारण वासना है। वासना जब तक है तब तक कर्म त्याग नहीं हो सकता है। भले ही हम बाह्य रूप से कर्म का परित्याग कर दें पर हमारी वासना का नाश नहीं होने के कारण हम अपने मन में ही कर्मों, विषयों का चिन्तन करने लग जाते हैं। बाहर से तो हम कर्म नहीं कर रहे हैं पर अन्दर में कर्म चल रहा है। इसी को गीता में मिथ्याचारी कहा गया है। इससे निम्न हानियां हैं—

कर्म से जो हम कर्तव्य कर्म करते हैं उससे च्युत हो जाते हैं।

कर्म से समाज सेवा होती है वह रुक जाती है।

कर्म से चित्त शुद्ध होता है वह रुक जाता है।

भीतर में हम कर्मों का चिन्तन करते रहने के कारण चित्त मलिन का मलिन ही रह जाता है। वरन् और अधिक मलिन हो जाता है।

कर्म से जो हमारी वासनाओं की तृप्ति होती है वह रुक जाती है। कुण्ठित हो जाती है। वासना समाप्त नहीं होने के कारण वे गलत-अश्लील रूप में प्रकट होती हैं। जिसकी पूर्ति लोग छिप-छिप कर करते हैं। आज के साधु समाजों की

यही हालत है। क्योंकि बाह्य रूप से तो समाज में घोषणा कर चुके हैं कि उन्होंने संसार को त्याग दिया है। पर अन्दर संसार पूरी तरह जमा हुआ है। इसलिए वे लुक-छिपकर अपनी भोग वासनाओं की तृप्ति करते हैं। वे एक साधारण गृहस्थ से अधिक जिह्वा की चटलास और काम की चटलास की पूर्ति करते हैं। अतः गीता ने इस प्रकार के कर्मत्याग की कठोर निंदा की है।

कर्म का मूल आधार है वासना। अतः वासना का जब तक समूल नाश नहीं होता तब तक कर्म के त्याग का अधिकार नहीं है। फिर गीता कहती है कर्म त्याग हो ही नहीं सकता है। जब तक शरीर है तब तक कर्मत्याग सम्भव नहीं। अतः गीता कर्मों के बंधन से मुक्त होने के लिए युक्ति बतलाती है।

कर्म तत्त्व

गति — पंखा

क्रिया — किसी जीवित प्राणी की गति क्रिया

कर्म — जब क्रिया में संकल्प मिश्रित हो तब कर्म क्रिया

सहज क्रिया — संकल्प क्षीण लुप्त

आकस्मिक — संकल्प रहित घटना, अपघटना Accident

कर्म < करने योग्य कर्तव्य शुभ कर्म—शुभ फल
न करने योग्य अकर्तव्य, दुष्कर्म फल-अशुभ

कर्मफल सकाम कर्म

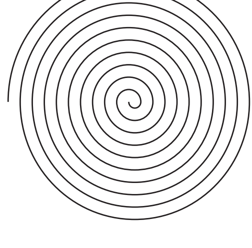
कर्म < आदत की जकड़न से
फल की कामना से
अहंकार की भावना से

कर्म निष्फल न हो
किन्तु निष्काम अवश्य हो } फल अपने लिए न होकर समाज के लिए या प्रभु के चरणों में

दो रास्ते (1) संसार चक्र—कर्म का भालू 8,40,00,000

स्वार्थ कर्म (सकाम)—पुनर्जन्म

संसार चक्र
कर्म चक्र



(2) यज्ञार्थ कर्म

निष्काम.... उत्तरोत्तर....

कर्म छोड़ा भी नहीं जा सकता (बिना कर्म क्षणभर न टिकना) किन्तु कर्म से छुटकारा पाना भी अनिवार्य है।

'योगः कर्मसु कौशलम्'

Technique of action (Karma)

कर्म करें किन्तु कर्म में फंसें नहीं।

कुशल —	एक गुरु ने शिष्य को	कुशा लाने को कहा
	शिष्य अनाड़ी.....	हाथ फाड़ लाया
	कुशल शिष्य.....	कुशा लाया हाथ नहीं कटा कुशा गुरु को दी गुरु ने यज्ञ में प्रयोग की
कर्म में कुशल होने से		कर्म की फांसी से बचे कर्म के अहंकार से बचे कर्म को प्रभु समर्पित (गुरु समर्पित) करे। यज्ञ भावना से चढ़ा दे।

जो कर्म छोड़ता है वह नीचे गिरता है।

जो कर्म के फल को छोड़ता है वह ऊपर उठता है।

लाभ—(1) कर्म की रंगत नहीं चढ़ी।

(2) कर्मफल की फांसी से बचा।

(3) कर्तापन के अहंकार से बचा।

(4) कर्म में प्रभु की विशेष कृपा, विशेष शक्ति का प्रवेश हो गया।

(5) कर्म उत्तम एवं चमत्कारी हो गया। असम्भव को सम्भव कर लिया।

(6) विश्व का भरपूर कल्याण हुआ। अपने को मोक्ष (प्रभु प्राप्ति)

फल को त्यागा तो फलदाता प्रभु मिल गया। खिलौने को त्यागा, मालिक मिल गया।

कर्मयोग

एक प्रिंसिपल

कर्मयोग के परिणामस्वरूप

Pessimistic निराश

कर्म से दूर

पलायनवादी

कर्म करो फल की आशा मत करो। तब निराशा के अलावा है ही क्या? फल की प्रेरणा से ही कर्म होते हैं।

घुड़दौड़ में Gold Maddle जीतने के लिए लोग सालभर से अभ्यास करते हैं। फल बिना incentive, बिना Salary के सब प्रोफेसर टा-टा करके चले जाएंगे।

उत्तर—मजदूर को मजदूरी मिलनी ही चाहिए नहीं तो निर्वाह भी नहीं होगा और अत्याचार भी होगा। अतः निर्वाह हो और अत्याचार से बचने के लिए मजदूर को मजदूरी मिलनी चाहिए। पर ऐसे लोग मजे से दूर रहते हैं इसलिए मजदूर कहलाते हैं। इसमें जीवन का मजा नहीं है। कोई कलम का, कोई वाणी का, कोई शास्त्रों को ढोने वाला आदि-आदि।

मजदूर है वह जीवन के वास्तविक मजे से दूर है।

तब उस प्रोफेसर ने कहा—कि मजदूर ही अच्छे हैं। हम मजदूर ही बने रहेंगे।

उत्तर—पुनः आपका बच्चा नहर में डूब गया। चार आदमी आते हैं—

A. परम आलसी मार्ग में नशे में चूर हैं। लोग कहते हैं बच्चा डूब रहा है। उसे निकालो—कोई उत्तर नहीं—बच्चों को बचाने पर भरपूर इनाम है तो वह कहता है कृष्ण ने कहा है कर्म तो करो पर फल की आशा मत करो—पर वास्तव में उसमें फल की लालसा नहीं, ऐसी बात नहीं पर वह आलसी है। कर्म करना नहीं चाहता है। यह व्यक्ति कर्म नहीं करता है। ऊपर-ऊपर से कहता है फल की इच्छा नहीं, फलाशा नहीं, ऐसा व्यक्ति तमोगुणी।

B. पहले सौदा करता है मुझे क्या फल मिलेगा। बिना फल के कर्म भी नहीं करता है। फल का Promise होने पर कर्म। ऐसा व्यक्ति दलाल है। रजोगुण तमोन्मुखी है।

C. कपड़े उतारे, छलांग लगायी, बच्चे को निकाला, फिर कर्म के तुरन्त बाद फल मांगता है। फल नहीं मिलने पर बच्चे को पुनः नहर में फेंक देता है। ऐसा व्यक्ति कठोर व्यापारी है।

D. कपड़े उतारे, छलांग लगायी, बीच भंवर से बच्चे को वापस लाया। बच्चे का पानी निकाला। बच्चे को होश में लाया। बच्चे को स्वस्थ किया और फिर अपनी साइकिल पर चढ़ा और चलता बना। इसने फल की चर्चा न पहले की, न बाद में चर्चा की। कर्म आया तो तुरन्त किया और अपने रास्ते लग गया।

तब प्रिंसिपल से पूछा—चारों आदमियों में से तुम किसको मांगोगे। तब उत्तर मिला D को मांगूंगा। इसी तरह निष्काम कर्मयोगी को दुनिया का हर कोई व्यक्ति चाहता है।

माँ की सेवा कर्तव्य भावना से न कि फल की आशा से। या माँ बूढ़ी हो गई है इसलिए नहीं वरन् माँ की सेवा शुद्ध कर्तव्य भाव से। इसी प्रकार भूखे को अन्न, प्यासे को जल, वस्त्रहीनों को वस्त्र देना शुद्ध कर्तव्य भाव से। कर्तव्य-कर्तव्य के लिए।

फलाशा की कामना करना तुच्छता है, कमीनापन है, कृपणता है।

(1) कर्म का अधिकार है—उदाहरण-परीक्षा में सादी कापी मिली। 3 घंटे के लिए छात्र को अधिकार है कि वह उसमें लिखे या खाली छोड़ दे। शिक्षक की प्रशंसा लिखे या गाली दे। उस पर थूके या उपयोग करे चाहे उसका जिस तरह उपयोग करे। 3 घंटे के लिए कर्म का अधिकार है।

(2) मा फलेषु कदाचन्—फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। इसमें B अधिकारी नहीं है। C कर्म के बाद फल का सौदा करने वाला। कर्म अच्छा करें या बुरा करें हमारी मर्जी पर फल का विधान हमारे हाथ में नहीं है। नहीं तो सभी कोई अपने आपको First class first कर दे। अतः फल का विधान हमेशा दूसरा ही करता है।

(3) अतः कर्मफल की ओर हमारी प्रवृत्ति न हो।

(4) और न कर्म न करने की ओर ही प्रवृत्ति हो। क्योंकि चलो फल नहीं चाहना है तो कर्म ही मत करो। जिससे फल के झंझट से बच जाएंगे। फल का सवाल ही नहीं उठेगा। अतः भगवान् कहते हैं—अकर्म की ओर भी हमारी प्रवृत्ति न हो।

इस सबका अधिकारी D है। जिसको कर्मयोगी बनना है। तब कर्म में फल मिश्रित नहीं होने देना चाहिए।

गीता तो हमारे समक्ष आदर्श व्यक्ति, महान् व्यक्ति बनने के लिए एक आदर्श रखती है। अतः गीता हमारे लिए नीचे नहीं आएगी। गीता के लिए हमें ऊँचा उठना होगा।

हम एकाएक गीता के महान् आदर्श तक नहीं पहुँच सकते हैं। इसके लिए गीता ने इस आदर्श तक पहुँचने के लिए सीढ़ी बनाई है—

(1) सकाम कर्म करो पर अच्छे कर्म करो, बुरे नहीं।

फिर कर्मफल-त्याग का अभ्यास।

फिर कर्म संग त्याग का अभ्यास।

और फिर कर्तापन का अहंकार त्याग दो। तब सच्चे अर्थ में पूर्ण सिद्ध कर्मयोगी।

यज्ञ तत्त्व से ही सृष्टि अभी तक बची हुई है। नहीं तो सृष्टि अभी तक ध्वस्त हो जाती।

तिलक-सुभाष-मालवीयजी—ऐसे निष्काम कर्मयोगी नहीं होते तो सृष्टि कब की समाप्त हो गई होती। इन महापुरुषों के पास भौतिक सुख-सम्पदा का अतुल भण्डार सामने पड़ा था। पर इन्होंने उसकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया।

कर्म का रहस्य वही है जो सारे जीवन और जगत् का रहस्य है। यह श्रीमद् गीता के वक्ता श्रीभगवान् के संदेश का सार-मर्म कहा जा सकता है। जगत् प्रकृति का केवल कोई यंत्र या नियम चक्र नहीं है जिसमें जीव क्षणभर के लिए या युग-युग जीने-मरने के लिए फंसा हो, यह है परमात्मा की निरन्तर अभिव्यक्ति।

—**ऋषि अरविन्द**

जहँ राम तहँ काम नहिं

एक ओर तो कहा जाता है जहां राम वहां काम नहीं और जहां काम वहां राम नहीं एक साथ दो स्वामी की सेवा यानी ईश्वर और जगत् दोनों की सेवा साथ-साथ नहीं कर सकते। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि संसार में रहकर निष्काम भाव से विश्व की सेवा ही भगवान् की पूजा है। वास्तविक संन्यासी वही है जो संसार में रहते हुए संसार से निस्संग रहता है। जैसे कमल का फूल। यहां दोनों बातें देखने में परस्पर विरुद्ध-सी लगती हैं। पर वास्तव में विरोधी नहीं हैं। देश, काल, पात्र, परिस्थिति के अनुसार यह भेद प्रतीत होता है। जैसे भगवान् अर्जुन को उपदेश देते हैं और Stage by stage आगे बढ़ते जाते हैं। प्रथम में वे कहते हैं कर्म तुम छोड़ नहीं सकते। कर्म तुम्हें करना है। फिर दूसरी Stage में कहते हैं कर्म तुम्हें करना है। पर, कर्मफल पर तेरा अधिकार नहीं। फिर अगली Stage में थोड़ा और ऊपर उठते हैं तुम कर्ता हो, यह भ्रान्ति वास्तविक कर्ता गुण है फिर एक Stage आगे जाते हैं और सब कुछ कर्ता ईश्वर है तुम तो मात्र निमित्त हो।

ये बातें परस्पर विरुद्ध-सी लग सकती हैं। पर, विरुद्ध नहीं हैं। अधिकार-भेद के अनुसार ही उपदेश दिया जाता है। प्रथम में हमें सत्-असत् में भेद करना पड़ता है। भेद करके सत् को ग्रहण करना और असत् का त्याग करें। जब हम सत् में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, स्थिर हो जाते हैं। सत् की कुछ झलक या रस मिलने लगता है। उसका स्वाद मिल जाता है। तब यह विचारना चाहिए कि असत् की सत्ता किससे है? असत् के लिए आधार क्या है? क्या जैसा बाइबिल और कुरान में evil power या शैतान की कल्पना की गई है अशुभ के लिए अलग से। अगर असत् के लिए अलग से शैतान की कल्पना करते हैं तो विश्व में दो सत्तायें हो जाएगी और दोनों में संघर्ष हो सकता है। अतः दो सत्ताओं का विचार नहीं कर सकते हैं। अतः असत् भी अस्तित्ववान है ईश्वर के कारण। भले ही वह ईश्वर गलत स्थान पर होने के कारण अशुभ प्रतीत होता है। राम तो ईश्वर है पर रावण भी ईश्वर की सत्ता से ही सत्तावान है। किसी evil power की बदौलत नहीं। अतः दोनों जगह जब ईश्वर का वास है तब उससे घृणा कैसे कर सकते हैं। अतः वहां निस्संग भाव से रहना है। इसलिए हमारे यहां अशुभ के लिए अलग से शैतान

की कल्पना नहीं की गई है। सब कहीं ईश्वर का ही साम्राज्य है। इसलिए हमने मृत्यु को देव कहा। काम को कामदेव कहा। असुर, पापी, शैतान कहकर उसका बहिष्कार नहीं किया।

अतः प्रथम में सत् और असत् का विवेक कर असत् का परित्याग और सत् में प्रतिष्ठित होना और जब सत् में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब यह विचार करना है असत् की सत्ता किससे है। तब फिर असत् से घृणा नहीं करके उसमें निस्संग भाव से कमल के सदृश रहना है। किन्तु, यदि प्रथम में सत् और असत् का विवेक नहीं करेंगे तो हम कभी भी सत् में प्रतिष्ठित नहीं हो पाएंगे और असत् से निवृत्त नहीं हो पाएंगे। सदैव असत् के मायाजाल में बंधे हुए 84 लाख योनियों में भटकते रहेंगे।

रहीम ने तुलसीदासजी को लिखकर भेजा कि मैं राम और काम दो घोड़ों पर सवार हूं। दोनों मुझे विपरीत दिशा में खींच रहे हैं। रथ के दोनों घोड़ों के विपरीत दिशा में गमन करने से मैं पिसा जा रहा हूं। तब तुलसीदासजी ने लिखा कि हाथ रखो संसार के कार्य में मन राखो राम में। घोड़े दो हैं पर रथ एक है। अतः आपका रथ और शीघ्रता से राम के धाम पहुँचेगा।

ऐसी स्थिति में जब हम सत् में प्रतिष्ठित हैं पर लोक व्यवहार और समाज की मर्यादा की रक्षा हेतु असत् व्यवहार करते हैं। तब जबकि हमें सत् का चस्का (बड़ा रस परम रस) लग चुका है तब संसार हमें अपनी ओर नहीं खींच सकेगा। संसार में हमारा राग नहीं होगा। संसार का कटु रस हमें नहीं भाएगा। संसार का रस हमें अपने पथ से विचलित नहीं कर सकेगा। इससे दोनों उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। अपना मोक्ष और जगत् का हित।

जीवन केवल जीने के लिए नहीं वरन् परमेश्वर के लिए है और मनुष्य का अन्तरात्मा उन्हीं परमेश्वर का सनातन अंश है। कर्म का प्रयोजन है आत्म-अनुसंधान, आत्म-पूर्णत्व और आत्मसिद्धि कोई तात्कालिक बाह्य फल नहीं है।

—ऋषि अरविन्द

बड़ों के आचरण से शिक्षा

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार बरतते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य जीवन में जितनी शिक्षा अर्जित करता है, उसका 90 प्रतिशत अपने बड़ों के अनुकरण से ही प्राप्त करता है। शास्त्रों तथा अपने निजी विवेक से वह मात्र 10 प्रतिशत ही सीखता है। अतः लोकतन्त्र में अथवा किसी अन्य राजतन्त्र में भी राज्य के सर्वोच्च नेता के आचरण का देश के करोड़ों नागरिकों के आचरण पर सीधा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। पुरानी कहावत 'यथा राजा तथा प्रजा' का भी यही भाव है। महाभारत के युद्ध में शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए कहा—'राजा कालस्य कारणं'। आज रोगशय्या पर पड़े हुए लोकनायक जयप्रकाश नारायण का मन मौनवाणी में दुहरा रहा है, 'राष्ट्रपति भ्रष्टाचारस्य कारणं'। जयप्रकाशजी के मौन भाव को मुखर करते हुए श्री चन्द्रशेखरजी ने स्पष्ट एवं सार्वजनिक आरोप लगाया है कि 'लोकसभा के विपक्ष के नेता श्री जगजीवन राम को प्रधानमंत्री न बनने देने के लिए श्रीमती गांधी और राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने गहरी साजिश की है।' उन्होंने राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की भी घोषणा की है। श्री जगजीवनराम एवं अन्य अनेक नेताओं ने भी इसे राष्ट्रपति द्वारा कुटिल षड्यन्त्र की संज्ञा दी है।

देश में व्याप्त भ्रष्टाचार के सबसे बड़े शिक्षक एवं आचार्य हमारे बड़े-बड़े नेतागण ही हैं। वे मंचों से भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए बड़ा ही सुन्दर उपदेश कर सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष आचरण में वे राग-द्वेष से दूषित हैं एवं भ्रष्ट आचरण करते रहते हैं। जनता उनकी कथनी का मनोरंजन मात्र के लिए श्रवण तो करती है, किन्तु अनुकरण तो उनके भ्रष्ट आचरण का ही करती हैं। वाणी का विलास अथवा वाणी का व्यभिचार मानव को उतना प्रभावित नहीं करता जितना प्रत्यक्ष जीवन का आचार।

मानव न निर्जीव पुस्तकों से उतना सीखता है और न थोथे भाषणों से। जितना कि प्रत्यक्ष जीवन की खुली, सजीव पुस्तक से ग्रहण करता है। अतः मानव सारा भ्रष्टाचार अपने ऊपर के अधिकारियों या नेताओं के अनुकरण से ही सीखता है।

सर्वोच्च पद पर आसीन नेताओं को यह नहीं भूलना चाहिये कि उनके आचरण का सीधा प्रभाव देश के सौ करोड़ लोगों के जीवन पर पड़ता है। उनका विवेकपूर्ण, निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ आचरण देश के करोड़ों नागरिकों को विवेकी एवं सदाचारी बना सकता है और उनका एक भ्रष्ट आचरण पूरे देश को भ्रष्टाचार के गर्त में धकेल कर राष्ट्र का सर्वनाश कर सकता है। अतः भ्रष्टाचारी प्रधानमंत्री अथवा राष्ट्रपति केवल उतना ही अपराधी नहीं है जितना कि वैसा आचरण करने वाला कोई अन्य नागरिक है। उसका अपराध तो पूरे राष्ट्र को अपराध की शिक्षा देने वाला होने के कारण अन्य नागरिकों की तुलना में करोड़ों गुना अधिक गम्भीर एवं अक्षम्य बन जाता है।

सर्वोच्च नेता के प्रत्येक छोटे-बड़े आचरण को संसार भर के लोग अपनी सूक्ष्मदर्शी आंखों से, कैमरे की आंखों से, टेलीविजन की आंखों से, पत्र-पत्रिकाओं की दृश्य-कथाओं से देखते हैं और जाने-अनजाने उसका अनुकरण कर उसके अनुरूप ढलते जाते हैं। अतः किसी गणराज्य के राष्ट्रपति को गणपति के समान अपनी सूक्ष्मदर्शी आंखों से पूरी परिस्थिति को परखना चाहिये। गजानन के विशाल मस्तक की भांति गंभीर विचार करना चाहिये और गज के समान फूंक-फूंक कर एक-एक पग रखना चाहिये। गणपति पूजा का पर्व यदि गणराज्य के राष्ट्रपति को कुछ विवेक, विचार, गाम्भीर्य एवं निष्पक्षता की शिक्षा दे सके तो राष्ट्र के लिए मंगलमय प्रसंग होगा।

पं. नेहरू जैसे प्रतिष्ठित नेता के जीवन की कमियों का पूरे राष्ट्र पर एवं राष्ट्र के अन्तर्राष्टष्ट्रीय सम्मान पर सीधा प्रभाव पड़ा। पं. नेहरू का सरदार पटेल की यथार्थवादी नीतियों से मानसिक विरोध तथा नेताजी सुभाष की प्रतिष्ठा से द्वेष रखना, राष्ट्र को बहुत महंगा पड़ा। उनका प्रतापसिंह कैरो जैसे भ्रष्ट प्रशासक को संरक्षण देना भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वाला बना। अमेरीका के न्यूयार्क नगर के हेनरी हडसन होटल के मैनेजर ने जब बड़े मजाक के साथ कहा कि—'आपके देश का प्रधानमंत्री नेहरू गोमांस बड़े चाव से खाता है।' तो हम सुनने वाले सभी भारतीयों का मस्तक लज्जा एवं ग्लानि से झुक गया। चीन के आक्रमण के समय अमेरीका में न्यूयार्क हेरल्ड ने व्यंग्यचित्र छापा जिसमें एक खिड़की से चीनी अजगर (ड्रेगन) विषभरी फूत्कार करते घुस आया है और भारत के प्रधानमंत्री दूसरी खिड़की से कांपते और चीखते हुए भागे जा रहे हैं। सिंगापुर में स्ट्रेट टाइम्स नामक पत्र (जिसकी 1 लाख प्रतियां प्रतिदिन छपती हैं) ने अपने मुखपृष्ठ पर पटना कांग्रेस में जनता को काबू में करने के लिए पं. नेहरू का (हाथ में लाठी लेकर भीषण क्रोधावेश में जनता पर प्रहार को आतुर) चित्र 12''×20'' इंच के

बहुत बड़े आकार में छापा तथा शीर्षक दिया 'भारत के बूढ़े प्रधानमंत्री का भीषण क्रोध'। इससे विदेशों में देश की प्रतिष्ठा कितनी गिरी यह हम विदेशों में यात्रा करने वाले भारत-पुत्र अथवा विदेशों में बसे प्रवासी भारतीय ही समझ सकते हैं।

भ्रष्ट आचरण द्वारा चुनाव जीतने वाली इन्दिरा गांधी ने देश को भ्रष्टाचार सिखाने में सबसे बड़ा योगदान दिया। न्यायतंत्र का गला घोंट कर तथा देश को अपने स्वार्थ के पंजों के नीचे कुचल कर उन्होंने लोकतंत्र को आपातकाल की काल कोठरी में ठूंस दिया। विदेशों में छपने वाले व्यंग्यचित्रों में उसे 'ब्लडी मेरी ऑफ इण्डिया' तथा भारतीय संविधान को चूल्हे में जला-जला कर स्वार्थ की रोटियां सेंक रही तथा संजय को खिलाते हुए दिखाया गया। भारत की जेलों में कारा-अधिकारियों के व्यापक भ्रष्टाचार का जब हम विरोध करते और कहते कि हम भ्रष्टाचार के विरुद्ध शिकायत करेंगे तो कारापाल कहते थे—'जब देश की प्रधानमंत्री ही भ्रष्ट है तो हमारा कोई क्या बिगाड़ लेगा?'

चौधरी चरणसिंह ने तो 'जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट' की कहावत को इस प्रकार बदल दिया—

जाट रे जाट अपनी पार्टी काट, इंदिरा तलुवे चाट
राजनारायण भाट, भ्रष्टाचार की हाट, मैं कुर्सी का लाट।

स्वयं अपनी टीम से धोखा करके, विरोधी टीम की फेंकी हुई गेंद ले कर स्वयं अपने ही गोल में ठेल कर, अपनी पार्टी को गद्दारी से पराजित कराने वाला बेईमान खिलाड़ी यदि षड्यन्त्र से टीम का कप्तान बन जाये तो क्या अन्य खिलाड़ियों को टीम के प्रति वफादारी सिखला सकता है? सौ करोड़ लोगों को द्रोह एवं सिद्धान्तहीन पदलोलुपता सिखाने वाले इस आचरण भ्रष्ट कदम को क्या देश कभी क्षमा करेगा?

दलगत राजनीति से दूषित व्यक्ति को राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद पर कभी नहीं बैठाना चाहिए। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद एवं डॉ. राधाकृष्णन् जैसे राष्ट्रपतियों के गौरव से मण्डित आसन पर यदि एक ऐसा व्यक्ति बैठ जाता है जो पुराने राजनीतिक विद्वेष एवं दलगत स्वार्थ से ऊपर उठ कर पूरे राष्ट्र के हित की दृष्टि से विवेकपूर्ण पग नहीं उठा सकता तो यह राष्ट्र के लिए गंभीर चिन्ता का विषय एवं लोकतंत्र के लिए भीषण संकट का प्रसंग है। ऐसा राष्ट्रपति जो राष्ट्र की पत की रक्षा न कर उसकी प्रतिष्ठा को देश एवं विदेश में गिरा देवे उन्हें स्वयं अपना पद त्याग कर पूरे राष्ट्र से क्षमायाचना करनी चाहिए अन्यथा राष्ट्र के नागरिकों को बाध्य होकर उन्हें सिंहासन से च्युत करना पड़ेगा। लोकतंत्र में तंत्र का स्वामी लोक है न कि उच्च पदासीन राष्ट्रपति, जो लोकमत द्वारा चुना गया राष्ट्र का सब से बड़ा वेतनभोगी नौकर मात्र है।

समत्वयोग

समत्वयोग—स्वधर्म पालन के लिए समत्व सबसे बड़ा योग है। भगवान कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 2/48, गीता

हे अर्जुन! तुम आसक्ति त्यागकर, सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित होकर कर्म करो। क्योंकि समत्व ही सच्चा योग है।

इन्द्रियों द्वारा विषयों की जो शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुःखद अनुभूति होती है, उससे मन चंचल हो उठता है। कर्तव्यपरायणता के लिए यह अत्यावश्यक है कि इन सब विपरीत अनुभूतियों के मनोविकारों में कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपने मन को सम बनाए रखे। यदि राजस्थान के मरुस्थल में और लद्दाख की बर्फीली चोटी में मन को सम रखकर कर्तव्य हो सकता है तभी कर्ता कर्मयोगी कहलाता है। यदि अनुकूल जलवायु और प्रतिकूल जलवायु हमारे कर्तव्यपालन में कोई अन्तर नहीं डाल सकता तभी सच्चा कर्मयोग है। यदि महलों के राजसी भोग और जंगलों में घास की रोटी दोनों में सम रहकर मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए संघर्ष चालू रहता है तभी सच्चा कर्मयोग है। अनुकूल के कर्मी और प्रतिकूल परिस्थिति के कामचोर सच्चे कर्तव्यपरायण नहीं हो सकते।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। 2/14, गीता

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।। 2/15, गीता

अतः तितिक्षु सुख-दुःख में सम, धैर्यवान ही सच्चा कर्मयोगी बनने का पात्र है।

सुख-दुःख में समता—अनुकूल प्रतीति से मन को सुख और प्रतिकूल प्रतीति से मन को दुःख होता है। लाभ से मनुष्य को उसी कार्य को पुनः करने का लोभ बढ़ता है, हानि से कर्म में निराशा हो जाती है। जय से उत्साह बढ़ता है,

पराजय से उत्साह भंग हो जाता है। सच्चे कर्मयोगी को सुख-दु:ख, हानि-लाभ, जय-पराजय में सम रहना चाहिए—

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। 2/38, गीता

यदि देशभक्ति के कार्य में फूलमालाओं से सत्कार हो अथवा फांसी की डोरी पहन कर मरण का त्योहार मनाना पड़े तो भी सच्चा देशभक्त दोनों परिस्थितियों में कर्तव्यपालन की आन्तरिक प्रसन्नता से मुसकराता रहता है।

प्रज्ञा का स्थिर एवं सम रहना

स्थितप्रज्ञता—कर्तव्यपरायण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण मानसिक स्थिति स्थितप्रज्ञ की मनोभूमिका है। मन जब इन्द्रियों के वश में होकर विषयों की ओर भटकता है तब सांसारिक विषय क्षणिक, अनित्य, परिवर्तनशील एवं नश्वर होने के कारण अपने अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव के साथ मन को नचाते हैं। कभी हंसाते हैं, कभी रुलाते हैं, कभी उत्साह से भर देते हैं, कभी निराशा में पटक देते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी चिन्तातुर कर देते हैं, कभी लोभ में वेग से दौड़ाते हैं, कभी हानि में गर्दन तोड़ देते हैं, कभी मनोरंजन कर नचाते हैं, कभी वियोग में छाती फाड़ डालते हैं। सामान्य मनुष्य की बुद्धि उसके मन के वश में रहती है, मन इन्द्रियों के वश में चला जाता है, इन्द्रियां विषयों के वश में चली जाती है और विषयों के परिवर्तन एवं क्षणभंगुरता से बुद्धि चंचल हो उठती है। जिसकी बुद्धि एक क्षण में एक निश्चय करती है और दूसरे क्षण में मन की चंचलता के कारण विपरीत निश्चय करने लग जाती है उसकी बुद्धि विषम है, सम नहीं। चंचल है, स्थिर नहीं। विचलित है, अविचलित नहीं। भ्रष्ट है, पुष्ट नहीं। ऐसा व्यक्ति दीन दुर्बलप्रज्ञ है, स्थितप्रज्ञ नहीं। जब उसकी बुद्धि ही स्थिर नहीं तो वह स्वधर्मपालन में दृढ़तापूर्वक कैसे डट सकता है। उदाहरण—यदि घंटाघर की विशाल घड़ी से हम अपनी घड़ियों का मिलान करना चाहें तो यह अनिवार्य है कि घंटाघर की घड़ी दायें-बायें के झंझावातों से अथवा पक्षियों के नृत्य-कलरव से चलायमान होने वाली न हो। यदि अभी घड़ी तीन बजा रही है और पक्षी के सूई पर बैठने से छह बज जाए, पुरवा की हवा चलने से नौ बज जाए और पछवा हवा के चलने से चार बज जाए तो उस घड़ी का भरोसा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की बुद्धि इतनी चंचल है कि कभी कहता है कि देश के लिए सर्वस्व बलिदान कर देना चाहिए, और पुलिस की लाठी देखकर कहता है व्यर्थ में सिर फुड़वाना मूर्खता है। पकड़ा जाने पर नाक रगड़कर माफी मांगता है और कहता है अंग्रेज सरकार हमारी माई-बाप है और आजादी मिलने पर कहता है, हम भी पुराने स्वाधीनता सेनानी हैं। अत: ताम्रपत्र मिलना चाहिए। तो ऐसे चंचल बुद्धि व्यक्ति का क्या

भरोसा किया जा सकता है और उससे समाज का क्या कल्याण हो सकता है। इसलिए कर्मयोगी के लिए बुद्धि का सम रहना परम अनिवार्य है।

भारत के अंतिम मुगल सम्राट्, 1857 के क्रान्तिवीर बहादुरशाह जफर ने गीता के इसी भाव को अपनी कविता की लड़ी में पिरो दिया है—

जफर आदमी उसको न जानियेगा

चाहे कितना हो इल्मो-फहमो बका

जिसे ऐश में यादे खुदा न रही

जिसे तैश में खौफे खुदा न रहा

चाहे कितना ही विद्वान्, सुज्ञ पण्डित हो, ज्ञानी

ऐश्वर्य भोग में जिसको प्रभु का सिमरन भूले,

क्रोध में प्रभु का भय त्याग करे निष्ठुर मनमानी।

इल्म = विद्या

फहम = ज्ञान

बका = रहस्यज्ञान

ऐश = ऐश्वर्य

तैश = क्रोध

खौफ = भय

गीता में भगवान् कहते हैं—

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। 2/56, गीता

'दु:खों की प्राप्ति में उद्वेगरहित मन जिसका और सुखों की प्राप्ति की स्पृहा दूर हो गई है तथा जिसके राग, भय, और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है।'

निन्दा स्तुति में सम—एक सच्चे कर्मयोगी को न निन्दा में उदास हो जाना चाहिए और न स्तुति में फूलकर कुप्पा हो जाना चाहिए—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर:।। 12/19, गीता

जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला है एवं जिस किसी प्रकार से भी शरीर का

निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट है और रहने के स्थान में ममतारहित है वह स्थिरबुद्धि वाला भक्तिमान पुरुष मेरे लिए प्रिय है।

(5) अपने-पराये में सम—मनुष्य का अपनों के प्रति स्वाभाविक राग होता है तथा दूसरों के प्रति द्वेष होता है। किन्तु सच्चे कर्मयोगी को न अपनों के प्रति राग में बह जाना चाहिए न दूसरों के प्रति द्वेष के विष में जलते रहना चाहिए। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में भी भगवान् ने कहा है कि जो राग-द्वेष से वियुक्त होकर अपने मन को वश में रखते हुए उचित निर्वाह के लिए इन्द्रियों का विषयों से संसर्ग करता है वह आत्मवशी पुरुष सदा प्रसन्नता को प्राप्त होता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। 2/64, गीता

नवम् अध्याय में भगवान् स्वयं कहते हैं कि मैं सब भूतों में सम हूं और मेरे लिए कोई भी राग या द्वेष का पात्र नहीं है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

राग और द्वेष परस्पर एक-दूसरे के पूरक मनोविकार हैं। बिना राग के द्वेष और बिना द्वेष के राग हो ही नहीं सकता। एक के प्रति राग का अर्थ ही है अन्यों के प्रति द्वेष। चाहे व्यक्ति उसे स्वीकार करे या न करे किन्तु राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि अध्यापक कक्षा में अपने किसी प्रिय छात्र को अवैध रूप से एक अंक अधिक दे देता है तो वह जाने-अनजाने शेष सभी छात्रों के प्रति द्वेष का व्यवहार कर रहा है। क्योंकि एक-एक अंक द्वारा एक सीढ़ी ऊपर चले जाने से शेष सभी छात्र क्रमशः एक-एक सीढ़ी नीचे हो जाएंगे। जिसका प्रथम स्थान बनता था, उसका द्वितीय, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का चतुर्थ इस प्रकार सभी एक-एक दर्जा नीचे गिर जाएंगे। अतः एक को अनुचित रूप से ऊपर उठाना, शेष सबको अनुचित रूप से गिराने के बराबर हो जाएगा। अतः राग में द्वेष गुप्त रूप से छिपा हुआ ही है।

स्वामी रामतीर्थ जब अमेरीका में थे तो एक अमेरीकन महिला ने जिसका इकलौता पुत्र मर गया था, स्वामीजी के पास आकर कहा—मुझे शान्ति दीजिये, मेरा इकलौता पुत्र मर गया है। स्वामीजी ने कहा—पुत्र को चिरनिद्रा में सोने दो, शान्ति हो जाएगी। उसने आक्रोश में चिल्ला कर कहा—ओ भारतीय स्वामी! आप एक जवान माता के मन को नहीं पहचानते, मुझे मेरा पुत्र चाहिए। स्वामीजी ने कहा—यदि आपमें मातृत्व की लालसा है तो उठा लो उस रोते हुए हब्शी बच्चे को और उसका अपने बेटे के समान लालन-पालन करो, तुम्हें शान्ति मिल

जाएगी। इस पर विदेशी महिला ने पुनः आक्रोश में भरकर कहा—यह असंभव है। यह हब्शी बच्चा गन्दगी से भी अधिक गंदा है, मैं उसको स्पर्श भी करना नहीं चाहूंगी। उसे देखने से भी मुझे घिन आती है और आप मुझे उसे उठाकर चूमने-पुचकारने और बेटे के समान पालने की बात कह रहे हैं, यह असंभव है। स्वामी, तुम एक जवान माता के मातृत्व से क्रूर मजाक कर रहे हो। इस पर स्वामीजी मुसकराये और कहा—मां, या तो बेटे का राग छोड़ दो या पराये बेटे का द्वेष छोड़ दो, तुम्हें शान्ति मिल जाएगी। न तुमसे अपने बेटे का राग छोड़ा जाता और न पराये बेटों का द्वेष। भगवान् ने तुम्हें इसी पाप का दंड दिया है। महिला ने रो-रोकर अंत में और कोई उपाय न देखते हुए उस बच्चे को उठा लिया और उसे प्यार से पुचकारा। अपने बेटे की तरह पाला-पोसा, पढ़ाया और उसे शान्ति मिल गई।

आज मानवता राग और द्वेष की दो विषम अग्नि ज्वालाओं के बीच में जल रही है। क्लबों एवं भोगमहलों में राग की अग्नि भड़क रही है। कचहरी और युद्धस्थलों में द्वेष की अग्नि भड़क रही है। यदि मानव पेट्रोल का एक ड्रम अपने सिर पर उड़ेल ले और एक अपने पांव और कपड़ों पर उड़ेल ले और स्वयं अपने हाथ से आग लगा ले और चौराहे के बीच छाती पीटकर रोये कि मुझे बचाओ, तो इसमें दोष किसका है? आज मानव स्वयं ही राग और द्वेष की अग्नियों को अपने मन की स्वीकृति से भड़काकर उनके बीच में करुण-क्रन्दन कर रहा है। गीता के समत्व दर्शन के अमृतजल बिना उसे कौन बचा सकता है। किसी दूसरे द्वारा लगाई हुई आग को तो कुछ प्रयास से बुझा सकते हैं किन्तु जो राग और द्वेष की आग हमारी ही सहमति से हमारे भीतर-भीतर छिपकर लगाई गई हो उसे बुझाए भी कौन?

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। 5/19, गीता

मित्र-शत्रु में समत्व—जिसके प्रति बार-बार राग होता है उसे मित्र कहते हैं। जिसके प्रति बार-बार द्वेष भाव पैदा होता है उसे शत्रु कहते हैं। राग-द्वेष भाव जब स्थायी हो जाता है वह मित्र-शत्रुभाव बन जाता है। दूसरे शब्दों में, जो हमारे प्रति बार-बार भला करता है उससे राग हो जाता है और वह हमारा मित्र बन जाता है। जो हमारे प्रति बार-बार बुरा करता है उसके प्रति द्वेष भाव उत्पन्न होता है। समझ जाते हैं कि यह शत्रु है। सच्चे कर्मयोगी को मित्र-शत्रु में भी सम-भाव रखना चाहिए—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।। 12/18, गीता

जो शत्रु और मित्र में सम है, उसी प्रकार मान और अपमान में भी (सम) है तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वों) में सम और आसक्ति से रहित है।

सब वर्णों में समत्व—ब्राह्मण ज्ञान साधना के कारण उच्च वर्ण अवश्य है और शूद्र तमोगुण की अधिकता के कारण अज्ञान जनित कर्मों (पशुओं की खाल उतारना, चमड़े का काम करना, मल की सफाई, मजदूरी करना, मद्य, मांस भक्षण) आदि के कारण नीच वर्ण माना जाता है। किन्तु वे सभी वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एक ही समाजपुरुष के अंग होने के कारण समान रूप से प्रिय एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से शिर-शिर का काम करते हुए, भुजायें, पेट एवं पैर अपना-अपना काम करते हुए सभी मर्यादा में रहते हुए सभी का शरीर रचना एवं प्राण रक्षा में समान महत्त्व है। इस बात को सच्चा कर्मयोगी जानता है इसलिए वह वर्णों की मर्यादा का पालन करते हुए भी सब में समाजपुरुष के नाते या मानवता के नाते या सबमें ब्रह्मदृष्टि के नाते सबको समान मानकर कर्म करता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। 5/18, गीता

विद्या से सम्पन्न ब्राह्मण में, गो में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में सच्चा ब्रह्मदर्शी समदृष्टि रखता है। इसमें भगवान् ने समदर्शिनः तो कहा है किन्तु समवर्तिनः नहीं कहा। भाव यह है कि सबमें समान दृष्टि अर्थात् ब्रह्मदृष्टि रखे, किसी के साथ अन्याय न करे, किसी को न सताये, सबका यथायोग्य रक्षण करे किन्तु व्यवहार लोकमर्यादा के अनुसार ही करे। यज्ञ करना हो तो विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण से करावे, चाण्डाल से नहीं। दुग्ध प्राप्ति के लिए गो की सेवा करे, कुत्ते से दूध की आशा न करे। ऐश्वर्य की सवारी करनी हो तो हाथी की करे, गो या कुत्ते पर सवारी न करे। मकान की रक्षा के लिए कुत्ते से काम ले, ब्राह्मण या गाय से नहीं। मृत पशुओं के शरीर का निबटारा कराना हो तो चाण्डाल को बुलाए, ब्राह्मण या क्षत्रिय को नहीं। सबसे व्यवहार यथायोग्य करे और सबमें ब्रह्मदृष्टि रखे अर्थात् ये सब ब्रह्म के ही रूप हैं। किसी से घृणा या किसी पर अत्याचार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं।

धनी-निर्धन वर्गों में समता—आर्थिक दृष्टि से समाज में धनी एवं निर्धन वर्ग बन जाते हैं। भारत का समाज वर्णप्रधान है तो पश्चिम का समाज वर्ग प्रधान। वहां धनी एवं निर्धन का भेद इतना भयंकर है कि धनी निर्धनों से घृणा करते हैं और कार्लमार्क्स नामक विचारक निर्धनों के मन में वैर एवं विद्वेष की अग्नि भड़काकर धनवानों का नाश करने के लिए रक्त क्रान्ति करवाता है। भारत में आज तक धनी एवं निर्धन के बीच इस प्रकार की विद्वेष के विष से भरी हुई रक्त क्रान्ति नहीं हुई थी किन्तु पश्चिम के वर्ग विद्वेष के विष से इस प्रकार की विषम स्थिति पैदा करने का प्रयास किया जा रहा है। भारत में द्वारकाधीश श्रीकृष्ण ने अपने अति दरिद्र मित्र सुदामा के धूलभरे और कंटकाछन्न चरणों को नयनों के

जल से धोकर वर्ग समता का आदर्श रखा। भारतीय संस्कृति के अनुसार धन सब भगवान् का है, सारे ऐश्वर्य का स्वामी ईश्वर है, सारी प्रभुता का स्वामी प्रभु है, सारे वैभव का स्वामी विभु है, समस्त लक्ष्मी का स्वामी नारायण है, सारी प्रकृति का स्वामी परमेश्वर है। अतः व्यक्ति धन का स्वामी न होकर मात्र उसका न्यासी है (Trustee)। उसे धन पर स्वामित्व का नहीं वरन् उस धन का विश्व कल्याणार्थ अच्छे से अच्छा सदुपयोग का अधिकार है। अतः धन की अधिकता का अर्थ धन के सदुपयोग का अधिक बड़ा कर्तव्यभार है। अतः धन की अधिकता या न्यूनता के कारण वर्ग और वर्ग विद्वेष को स्थान नहीं है। धन का नाम द्रव्य है जिसका अर्थ है बहने वाला। यह निरन्तर एक हाथ से दूसरे हाथ में बहता रहता है। इसलिए जो आज धनी है, कल निर्धन हो सकता है। रंक से राजा और राजा से रंक यह परिवर्तन होता रहता है।

परमेश्वर सच्चा दाता है। दाता के गुण तीन—देवे, दिलावे और छीन ले। वह जिसे देता है उसे धनवान बना देता है, जिसको दिलवाता है उसको भाग्यवान और जिसका छीन लेता है उसको कंगाल। क्योंकि धन हाथ बदलता रहता है। इसलिए धनी और निर्धन के पक्के वर्ग नहीं बन सकते। फिर प्रत्येक व्यक्ति किसी की अपेक्षा से निर्धन है और किसी अन्य की अपेक्षा से धनवान होता है। एक पैसा वाला भी उसकी अपेक्षा धनवान है जिसके पास कुछ नहीं है और दो पैसे वाले की अपेक्षा निर्धन है। इस क्रम से लखपति, कोटिपति भी किसी की अपेक्षा से निर्धन और किसी की अपेक्षा से धनवान है। अतः धन के आधार पर निर्धन और धनी के वर्ग बांटना असम्भव है। सभी लोग सापेक्ष दृष्टि से धनी और सापेक्ष दृष्टि से निर्धन हैं। अतः धनी एवं निर्धन में अनिवार्य वर्गसंघर्ष का अर्थ होगा सबका सबसे संघर्ष। War of all against all. गीता हमें समस्त वर्ग भेदों में सम रहने की शिक्षा देती है। सम्पत्ति और विपत्ति दोनों में हमें स्वयं सम रहना है। सम्पत्ति में गर्दन अकड़े नहीं और विपत्ति में छाती फटे नहीं, तभी कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ कहला सकता है। जैसे अपनी सम्पत्ति-विपत्ति में सम रहे उसी प्रकार सम्पत्तिवान और दरिद्र, दोनों में समदृष्टि रखे।

जीव मात्र में समता—(जीवन तत्त्व)—केवल मनुष्य मात्र में ही नहीं, केवल वर्णों में ही नहीं, केवल वर्गों में ही नहीं वरन् जीव मात्र में एक ही आत्मा का दर्शन करने वाला आत्मदर्शी सच्चा कर्मयोगी हो सकता है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।। 12/13, गीता

'जो समस्त प्राणियों में द्वेष से रहित, मित्र भाव से युक्त और करुणावान है तथा ममत्वरहित, अहंकार रहित, सुख-दुःख में समभावयुक्त और क्षमावान है।'

इस प्रकार शान्ति को प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित एवं स्वार्थ रहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित एवं अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करने वालों को भी अभय देने वाला है, ऐसा कर्मयोगी जो प्रत्येक जीव को सम मानता है जो एक चींटी तक को भी कष्ट नहीं देना चाहता वह सारे विश्व का मित्र बन जाएगा।

सब जीवों में समदर्शन (ब्रह्मदर्शन)—सब जीवों में जीवन की पवित्रता के आधार पर सबको समान मानना एक आदर्श है जिसे बौद्ध और जैन भी स्वीकार करते हैं, किन्तु गीता का समदर्शन केवल जीवन की पवित्रता के आधार पर या जीवदया के आधार पर ही नहीं है, गीता का समदर्शन ब्रह्मदर्शन के आधार पर है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

'यद्यपि मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूं, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरे को प्रेम से भजते हैं वे मेरे में और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूं।'

जड़-चेतन में समता—सच्चा ब्रह्मदर्शी केवल जीवों में नहीं वरन् सारे विश्व में जड़-चेतन सर्वत्र में एक ब्रह्म का ही दर्शन करने लगता है तब वह कर्मयोगी से ज्ञानयोगी बन जाता है। उसकी दृष्टि में जड़ और चेतन का भेद मिट जाता है। उसे स्थावर और जंगम, चल और अचल, सजीव-निर्जीव, जड़ और चेतन सबके पीछे और सबके भीतर छिपे हुए उस परम चेतन अविनाशी परमतत्त्व का दर्शन होने लगता है। वह नाम-रूप से परे, नाम-रूप के अधिष्ठान में परमतत्त्व का दर्शन करता है। वह प्रपंच में अनुस्यूत परमार्थ को देखने लगता है। दृष्टान्त—प्रपंचदर्शी, व्यवहारदर्शी, नामरूपदर्शी, भेददर्शी, जड़ जगत् दर्शी—लहर को, वीचि को, तरंग को, फेन को, ज्वार को, भाटा को, वाष्प को, बुलबुलों को, भंवर को, बादल को, घने बादल को, वर्षा को, हिमपात को, नदी को, नाले को, तालाब को, बावली को, कुएं को, नद को, महानद को, निर्झरों को, प्रपात को, समुद्र को, महासमुद्र को सबको भिन्न-भिन्न नाम-रूप से अनेक रूपों में अलग-अलग देखता है किन्तु तत्त्वदर्शी इन नाना नामों और रूपों, भेदों-प्रभेदों के पीछे एक ही जल तत्त्व को देखता है जिस अधिष्ठान पर नाना नाम-रूप टिके हुए हैं और जिस अधिष्ठान को जान (पहचान) लेने पर इन नाना नामों एवं रूपों का कुछ अस्तित्व ही नहीं बचता, इस तरह ब्रह्मदर्शी अनेकता में एकता का दर्शन करता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

इस प्रकार जानकर 'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है वही सच्चे अर्थों में देखता है।' यही सात्त्विक ज्ञान की परिभाषा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। 18/20, गीता

'हे अर्जुन! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म भाव को विभाग रहित, समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान।'

सारी गीता का सारतत्त्व समत्वयोग दर्शन ही है। शीत-उष्ण में सम, सुख-दुःख में सम, प्रज्ञा का स्थिर एवं सम, निन्दा-स्तुति में सम, अपने-पराये में सम, मित्र-शत्रु में सम, सब वर्णों में सम, धनी-निर्धन वर्गों में सम, जीव मात्र में सम, जड़-चेतन में सम, सब में समदर्शन (ब्रह्मदर्शन)। इस प्रकार समत्व की साधना द्वारा स्वधर्मपालन भी न्याय-नीति सम्मत होगा और धर्म पालन करते-करते मोक्ष भी सिद्ध हो जाएगा।

निर्दोष और सम ब्रह्म ही है। (निर्दोषं हि समं ब्रह्म) उस निर्दोष सम ब्रह्म को नमस्कार हो। वह निर्दोष सम ब्रह्म मेरे शरीर को सम रखे एवं निर्दोष रखे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। 6/13, गीता

योगी शरीर को, ग्रीवा को और सिर को एक सीध में सम रखकर (पद्मासन में बैठकर ही) अचल एवं स्थिर होकर ध्रुव सत्य की धारणा करे। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी इन्द्रियों के अनुभवों में समता (संतुलन) बनाए रखे। इन्द्रियों के शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल अनुभवों में हम सम रहें। हम तितिक्षा एवं धीरज द्वारा प्रतिकूल आंधियों में भी कर्तव्य से विचलित न हों। वही निर्दोष सम ब्रह्म हमारे मन में प्रकाशमान हो, दुःख-सुख के झंझावातों में, हानि-लाभ, जय-पराजय के परिवर्तन चक्रों में हम कर्तव्य में डटे रहें। वही निर्दोष सम ब्रह्म हमारे मन के विकारों में हमें सम एवं संतुलित रखे। हम ईर्ष्या-द्वेष में, अपने-पराये में समभाव रखें। वही निर्दोष ब्रह्म हमारी बुद्धि को प्रकाशमान करे। हमारी बुद्धि (धी) सम में स्थित हो। हम चलते-फिरते, काम करते हुए बुद्धि को स्थिर करके समाधिस्थ रहें, यह कर्मयोगी की स्थितप्रज्ञ समाधि है। वही निर्दोष ब्रह्म मेरी समाज दृष्टि में विराजे। मैं वर्णों के और वर्गों के भेदों से परे उस मूलभूत मानवीय समता को देखूं। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी जीवदृष्टि में विराजे, मैं जीव मात्र में एक ही समान जीवन तत्त्व को देखूं। वही निर्दोष सम ब्रह्म मेरी जगत्दृष्टि में विराजे, मैं जीव मात्र में ब्रह्म को देखूं। मैं जड़-चेतन सबमें उस अविनाशी भेद-रहित परम तत्त्व ब्रह्म को

ही देखूं। गीता का यह समत्वदर्शन ब्रह्म दर्शन की कुंजी है। यह समस्त आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का सर्वोपरि श्रेष्ठ समाधान है। यह साम्ययोग नर को नारायण बनाने वाला है जबकि कार्लमार्क्स का साम्यवाद मानव की भौतिक व्याख्या कर वर्गविद्वेष के विष को फैलाकर रक्तक्रान्ति के नाम पर सर्वसंहार करवाकर मानव को नर पशु, एवं नरपिशाच बनाने वाला है। विद्वेष के विषैले बीज से साम्यवाद नाम का मीठा फल प्राप्त हो ही नहीं सकता, वह मात्र एक लुभावना एवं छलने वाला नारा मात्र ही रह जाता है। साधना विषम की हुई तो फल सम मिलेगा कैसे? सम के आधार पर सम मिलेगा। जिसके अपने मन में समता नहीं वो समाज में समता कैसे ला सकता है क्योंकि उसका मन तो विद्वेष में, ईर्ष्या से जल रहा है।

गुणों में समता

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' 2/45 (गीता) गुणसाम्य ही गुणातीतावस्था है। प्रकृति का अर्थ है प्रथम कृति अथवा प्रचुर कृति अथवा प्रबल कृति। परब्रह्म परमेश्वर स्वयं तो शांतम् शिवम् अद्वैतम् हैं। वे निर्दोष, निष्पक्ष, अकर्ता, निर्लिप्त द्रष्टा हैं। उनके संकल्पमात्र से उन्हीं की अभिन्न शक्ति पराप्रकृति जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है जो कर्तुम्अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् समर्थ है (करने वाली, न करने वाली, बदलने वाली या रचने वाली, मिटाने और बदलने में समर्थ है), सूक्ष्म में से स्थूल जगत् रचने लगती है। सारी रचना सूक्ष्म से ही होती है। विश्व के महान् आश्चर्य, विराट् भवन, मन्दिर एवं दुर्लभ भवन सभी कुछ मानव के सूक्ष्म संकल्प एवं ललित कल्पना में से प्रकट हुई है। जैसे स्थूल ताजमहल बनने से पूर्व किसी कलाकार एवं भवन निर्माता की सूक्ष्म कल्पना में था। इसी प्रकार सारा विश्व ब्रह्म के संकल्प से ही प्रकट हुआ है। पराप्रकृति स्थूल रचना की ओर बढ़ती हुई अपराप्रकृति में परिवर्तित होती है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। 9/10, गीता

अर्थात् मेरी अध्यक्षता में मेरी अभिन्न शक्ति प्रकृति चराचर जगत् को रचती है।

अपराप्रकृति आठ अंगों वाली है। पंच महाभूत बाहर की प्रकृति पर नियंत्रण करते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। तीन (अथवा चार) अन्तःकरण—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। यह अन्तःप्रकृति पर नियंत्रण करते हैं। दृष्टान्त—हम मित्र से पूछते हैं प्रकृति कैसी है? वह कहता है, शरद ऋतु है। हलकी-हलकी ठण्डक आ रही है, सप्ताह में एक-आध बार वर्षा हो जाती है। किन्तु वर्षाकाल समाप्त हो गया है। आकाश निर्मल होने लगा है। न अधिक गर्मी न अधिक जाड़ा। शरद पूर्णिमा की चांदनी बहुत सुखद लगती है। हम उससे

कहते हैं यह तो आपने बाहर की प्रकृति की चर्चा की है। कहो, आपकी प्रकृति कैसी है अर्थात् बताओ मन शांत है या नहीं, बुद्धि निर्मल है या नहीं, अहंभाव कैसा है, क्या बहुत अहंकार में फंसे हो या अहंकार की धूल कुछ छंटी है। इसके उत्तर में भिन्न-भिन्न मित्रों के भिन्न-भिन्न उत्तर होंगे। बाहर भीषण गर्मी होने पर भी सत्संगी सज्जन का मन शांत होगा और बाहर शरद पूर्णिमा की शीतल चांदनी होने पर भी दुष्ट दुर्जन का हृदय द्वेष की अग्नि से जल रहा होगा। इस प्रकार बाह्य प्रकृति और अन्त:स्थ प्रकृति को मिलाकर भगवान् की अष्टधा प्रकृति सृष्टि का संचालन कर रही है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। 7/4, गीता

प्रकृति का विश्लेषण एक तो पंच महाभूतों के रूप में किया जाता है और दूसरा तीन गुणों के रूप में। गुण सत्त्व, रज और तम पंच महाभूतों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। अत: ये गुण बाह्य प्रकृति के पांच तत्त्वों और अन्त:प्रकृति के अन्त:करण, दोनों को प्रभावित एवं परिचालित करते हैं। तमोगुण निद्रा, आलस्य, तंद्रा, जड़ता, अज्ञान और प्रमाद का कारण है। इससे पृथ्वी तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। रजोगुण क्रिया, संघर्ष, गति, अशान्ति, प्रगति का कारण है। रजोगुण का थोड़ा अंश तमोगुण में मिलने पर जल तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। आधा तमोगुण और आधा रजोगुण मिलने से वायु तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। रजोगुण की अधिकता से अग्नि तत्त्व निर्मित एवं प्रभावित होता है। सत्त्व गुण आकाश को निर्मित एवं प्रभावित करता है। तमोगुण की अधिकता मानव को आलस्य में डुबो देती है। रजोगुण से बुद्धि (चेतना) प्रभावित होती है। बुद्धि के मेल से मन मननशील बनता है। उपयोगी संकल्प करना शुरू करता है, मन की सृष्टियों से सुन्दर वस्तुओं एवं काव्यों की रचना करने लगता है। बुद्धि रजोगुणी तर्कशक्तियुक्त है, यह तमोगुणोन्मुखी बनकर कई छल प्रपंच रचने लगती है। सत्त्व गुण संघर्ष के बाद विचारों के मंथन के बाद शास्त्रों की ऊहापोह के बाद प्राप्त होने वाली शान्ति है। तमोगुण की शान्ति मरघट की शान्ति है और सत्त्व गुण की शान्ति ब्रह्मज्ञानी-सिद्ध महात्मा पुरुष की शान्ति है (जैसे पागल और सिद्ध पुरुष स्वामी रामतीर्थ।) इन तीनों गुणों की लीला नित्य बाहर और अन्दर सर्वत्र हो रही है। तीनों गुणों की मात्रायें प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती हैं। इन तीनों की मात्रा के भेद से संसार में अरबों लोग भिन्न-भिन्न प्रकृति के बने हुए हैं। एक ही व्यक्ति के जीवन में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न गुणों का उतार-चढ़ाव होता रहता है। रत्नाकर डाकू महर्षि वाल्मीकि बन जाता है, कामांध नवयुवक गोस्वामी तुलसीदास बन जाता है। नास्तिक नरेन्द्रनाथ विश्वविजेता स्वामी विवेकानन्द बन

जाता है, कर्म से भागने वाला वैरागी-साधु लक्ष्मणदास दुर्धर्षकर्मी बंदा वैरागी बन जाता है। संस्कृत पाठशाला में अष्टाध्यायी पढ़ाने वाला साधारण पंडित क्रान्तिकारी सेनापति तात्याटोपे बन जाता है, बिगड़ा हुआ वैश्य-पुत्र गांधी महात्मा बन जाता है।

वास्तव में व्यक्ति में कई गुणों के बीज शुद्धरूप में छिपे रहते हैं। अनुकूल वातावरण या अवसर की चोट पड़ने पर वह गुण जाग उठता है। सारी शिक्षा और साधना इसलिए है कि हमारे भीतर का सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कारबीज अंकुरित होकर खिल सके। स्कूल, कालेज तथा अन्य संस्कारस्थान खेत या फुलवारी के समान है, अध्यापक या गुरु माली के समान है। उचित गुण बीज को उचित जलवायु देकर विकसित करना यही सत्संग एवं शिक्षा का उद्देश्य है।

बाहर की प्रकृति में भी भिन्न-भिन्न देश और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न गुणों का उतार-चढ़ाव होता रहता है। एक पिछड़े हुए गांव में तमोगुण का वातावरण अधिक होगा। कोलकाता, मुंबई जैसी नगरी में रजोगुण अधिक होगा। हिमालय के तीर्थों या अरण्याश्रमों में सत्त्वगुण अधिक होता है। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में सत्त्व गुण की अधिकता होती है, दिन में कर्मलीला के समय रजोगुण की अधिकता होती है। रात्रिकाल में शयन विश्राम के समय तमोगुण की अधिकता होती है।

व्यवसायकर्मी या युद्धकर्मी लोगों की संगत में रजोगुण की अधिकता होती है। सत्संगी महात्माओं की संगत में सतोगुण की अधिकता होती है, काम प्रधान घटिया उपन्यासों से तमोगुण बढ़ता है। इतिहास की वीर गाथाओं से रजोगुण बढ़ता है। गीता जैसे आध्यात्मिक ग्रंथों से सत्त्वगुण का विकास होता है। शूद्र अधिकांश तमोगुण में डूबे रहते हैं। वैश्य और क्षत्रिय व्यवसायीसंघर्ष और युद्धसंघर्ष के कारण रजोगुण में डूबे रहते हैं। ब्राह्मण ब्रह्मचिन्तन के द्वारा सत्त्वगुण का सुख लेते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम सत्त्वगुण की साधना है। गृहस्थ आश्रम रजोगुण की साधना है। किन्तु जो गृहस्थी काम और ऐश्वर्य में डूब जाते हैं वे पुनः तमोगुण की ओर गिर जाते हैं। वानप्रस्थ आश्रम रजोगुण की मात्रा कम करके सत्त्वगुण की ओर पुनः लौटने की तैयारी है। संन्यास आश्रम पुनः सत्त्वगुण की लक्ष्य साधना है। इस प्रकार देश-काल, पात्र-परिस्थिति सब में भिन्न-भिन्न गुणों का उत्थान-पतन होता रहता है। इस प्रकार प्रकृति में जो कुछ हो रहा है, गुणों का लीला नृत्य ही हो रहा है। वह व्यक्ति बड़ा भाग्यवान है जिसके जीवन में देश-काल, पात्र-परिस्थिति सभी कुछ उत्तम गुण वाले हों। देश-काल, पात्र-परिस्थिति सब समान हों और तीनों गुण सुन्दर युक्ति से संतुलित हों तो इस गुणसाम्यावस्था को आदर्श माना जाएगा। ऐसा व्यक्ति गुणों का उपयोग करते हुए भी गुणों के बंधन में नहीं रहेगा। वह गुणों की लीला का साक्षी बन जाएगा। वह निस्त्रैगुण्य या गुणातीत अवस्था को प्राप्त होगा।

गुण उसके भीतर खेल करेंगे किन्तु वह गुणों के बंधन में नहीं होगा। जैसे जल में नाव रहे तो सब ठीक है किन्तु नाव में जल हो तो महासंकट है। व्यक्ति में गुण हों और वे यथासमय अपना उचित कार्य करें इसमें कोई क्लेश नहीं है किन्तु व्यक्ति गुणों के चुंगल में हो और गुण उसे रज से तम, तम से रज में निरन्तर नचाते रहे तो बहुत बड़ी चिंता का विषय है। जिस प्रकार फुटबाल की गेंद इधर-उधर की ठोकरें खाने के लिए ही पैदा होती है, उसी प्रकार गुणों की चपेट पाकर जीव जीवनभर भटकता रहता है।

तमोगुण कुम्भकरण के रूप में तो निद्रा-आलस्य एवं अज्ञान का प्रतीक है। रजोगुण रावण के समान है जो निरन्तर उत्पात, संघर्ष, युद्ध, बलात्कार में लगा रहता है। सत्त्व गुण विभीषण के समान है जो रज और तम का मोह होते हुए भी भगवान् के भजन में तल्लीन रहता है। तमोगुण के कुम्भकरण का संहार करो, फिर रजोगुण के रावण का कलेजा चीर डालो, तत्पश्चात् सत्त्वगुण के विभीषण को भगवान् की शरण में अवश्य लाओ अन्यथा वह सत्त्वगुण के अहंकार से पुनः पतन की ओर ले जा सकता है। यदि सत्त्वगुण भगवान् की शरण में न आए तो उसका अहंकार ही साधक को खा जाता है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। 14/5, गीता

'हे महाबाहो! सत्त्व-रज-तम ये प्रकृति से उत्पन्न (तीन) गुण अव्यय देही (अर्थात् जीवात्मा) को देह में बांधते हैं।'

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।। 14/9, गीता

'हे भारत! सत्त्वगुण सुख में आसक्त करता है और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को आच्छन्न करके प्रमाद में लगाता है।'

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।। 14/16, गीता

'पुण्य कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल कहा है, राजस (कर्म) का फल दुःख तथा तामस (कर्म) का फल अज्ञान कहा है।'

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। 14/18, गीता

सत्त्व गुण में स्थित लोग ऊपर (अर्थात् उच्च लोकों) को जाते हैं, राजसी लोग बीच में (अर्थात् मनुष्य लोक में ही) रहते हैं, तथा निकृष्ट गुण के आचरणों में स्थित तामसी लोग नीचे (अर्थात् पशु आदि योनियों में) जाते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।। 14/19, गीता

'जब द्रष्टा (इन तीन) गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता तथा (इन तीन) गुणों से परे (परमात्मा) को जानता है, (तब) वह मेरे भाव (अर्थात् स्वरूप) को प्राप्त हो जाता है।'

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। 14/25, गीता

'जो मान और अपमान में सम है, मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष में सम है, सब प्रकार के आरम्भों (अर्थात् कर्मों) को त्यागनेवाला है वह गुणातीत कहा जाता है।'

जिस प्रकार पुरुष स्वयं निर्लिप्त एवं अकर्ता रहते हुए प्रकृति की लीला का तमाशा देखते हैं, उसी प्रकार गुणातीत व्यक्ति गुणों में गुणों को बर्तते हुए देखता है और स्वयं अकर्ता-द्रष्टा बनकर निर्लिप्त रहता है।

कर्म अकर्म में समता

कर्म से संसार का व्यवहार चलता है। बिना कर्म के संसार में क्षणभर टिकना भी असम्भव हो जाता है। अतः कर्म अनिवार्य है, किन्तु कर्म का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह चार प्रकार से व्यक्ति को बंधन में बांध देता है—

(1) कर्म कर्ता को रंग देता है।

(2) कर्मासक्ति या कर्म का संग करा देता है।

(3) फलासक्ति से बांधता है।

(4) कर्तापन का अहंकार होने लगता है।

(क) कर्म कर्ता को रंग देता है—कर्म करते हुए कर्म का परिणाम तो आगे होता है किन्तु कर्म का छींटा पीछे कर्ता पर पड़ता है। जैसे बंदूक चलाते हुए गोली तो आगे निकलती है पर धक्का पीछे पड़ता है। इस प्रकार कर्म कर्ता को रंगता जाता है। यदि क ने ख की हत्या की तो तात्कालिक आगे का परिणाम ख की मृत्यु एवं तात्कालिक पीछे का परिणाम 'क' का हत्यारा बन जाना है। हत्या कर्म ने ही 'क' को हत्यारा बनाया। चौर्य कर्म किसी को चोर बना देता है। साधु कर्म कर्ता को साधु बना देता है। अन्यथा चोर, डाकू, हत्यारा, किसी के माथे पर लगा हुआ नामपट्ट नहीं है। पर कर्म उसके मन पर जो रंग फेंकता है उसी से वह सज्जन या दुष्ट बन जाता है। कर्म की रंगत ज्यों-ज्यों गहरी होती जाती है त्यों-त्यों आदत बन जाती है। आदत धीरे-धीरे चरित्र बन जाती है और चरित्र मनुष्य का भाग्य बन जाता है।

Saw a thought, it becomes an act.
Saw an act, it becomes a habit.
Saw a habit, it becomes a character.
Saw a character, it becomes a destiny.

इस प्रकार सद्विचार से सत् कर्म, सत् कर्म से अच्छा स्वभाव, अच्छे स्वभाव से अच्छा चरित्र और अच्छे चरित्र से अच्छा भाग्य बनता रहता है। इसी प्रकार बुरे विचारों से बुरे कर्म, बुरे कर्म से बुरी आदत, बुरी आदत से बुरा चरित्र और बुरे चरित्र से बुरा भाग्य बनता रहता है। आदतें जीवनभर तो पीछा नहीं छोड़ती, अपने कर्म के संस्कार से अगले जन्मों में भी स्वभाव या प्रवृत्ति बनकर नचाती रहती हैं।

कुकर्म करके समाज की नजर से या पुलिस के फंदे से भले ही बच जाएं पर कर्म की रंगत, आदत के फंदे से नहीं बच सकते और वह अन्तत: फांसी के फंदे तक ले ही जाती है। Eachman जो हिटलर का साथी था, एक खून करने से भी डरता था, आदत लग जाने से संसार का सबसे बड़ा हत्यारा बन गया।

(ख) कर्म का दूसरा बंधन कर्म का संग है—यदि मनुष्य कर्म करे और अपने कर्म पर स्वयं आसक्त हो जाए तो वह आसक्ति ही बंधन बन जाती है। यह मेरा कार्य है, यह मेरी कृति है, इस कर्म से मेरे परिवार का सम्बन्ध है। यह मैंने बनाया है, रचा है, मेरी देन है आदि सब आसक्ति के बंधन हैं। इससे बुद्धि मोहयुक्त हो जाती है और मनुष्य कुछ नए कर्म करने के बजाय अपने पिछले किए हुए कर्मों की ओर बार-बार झांकता रहता है और उन्हीं का प्रदर्शन करने में सुख मानता रहता है। इसे ही कर्मासक्ति या कर्म का संग कहा जाता है।

(ग) कर्म फल की वांछा के सूक्ष्म तंतु से मन को बांध लेता है। इससे ध्यान कर्म की अपेक्षा फल पर चला जाता है। वर्तमान कर्म भी बिगड़ जाता है और फल को अधिक महत्त्व देने से भावी कर्म में रुचि कम होने लगती है। यदि फल के लिए ही कर्म करना है तो बिना कर्म किए ही फल मिल जाए तो इससे सस्ता सौदा और क्या हो सकता है। अत: बिना कर्म का कष्ट उठाए फल पाने की चेष्टा करता है। बिना परिश्रम के पैसा कमाना चाहता है, बिना उचित तपस्या के लाभ लूटना चाहता है, बिना परीक्षा दिए प्रमाण पत्र लेना चाहता है। इस प्रकार फल के लोभी कर्मसाधना त्यागकर फलसाधना के पीछे पड़ जाते हैं। इस प्रकार रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, लोभ, लाभ आदि सामाजिक पाप का धंधा चल पड़ता है। फल का लोभ वर्तमान को निष्क्रिय करता है। भविष्य के लिए सारा ध्यान फल पर केन्द्रित कराता है। फल की वांछा उसे इस जन्म में भी उतावला-बावला बनाकर नचाती रहती है और वह फल की अधूरी इच्छा लेकर मरता है

तो कर्मफल की वांछा उसे अगले जन्मों में भी भटकाती रहती है। इसलिए जो सकामकर्मी है वह कर्म करते हुए कर्म के चक्र में बंधता जाता है और कर्मफल की दलदल में गहरा फंसता जाता है।

(घ) कर्तापन का अहंकार—कर्म का सबसे बड़ा बंधन कर्तापन का अहंकार है। पांचों तत्त्वों में सबसे स्थूल पृथ्वी, उससे सूक्ष्म जल, उससे सूक्ष्म अग्नि, उससे सूक्ष्म वायु, फिर आकाश। आकाश से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म चित्त, चित्त से भी सूक्ष्म अहंकार है। अहंकार मलिन जीवात्मा का नाम है। जब तक जीव अपने को विश्व से, विश्वरूप से अथवा विश्वम्भर से पृथक् एक इकाई मानता रहता है तब तक वह अपने को कर्ता मानता रहता है। जब तक कर्ता बना रहता है तब तक उसे भोक्ता बनकर अपने कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है। यह बहुत बड़ा सूक्ष्म बंधन है जो बड़े-बड़े त्यागियों तक को अपनी लपेट में ले लेता है।

लोग प्रायः संसार के बंधन में बंधे रहते हैं। कुछ भाग्यवान लोकहितार्थ अपने धन, जन, भवन, परिवार का त्याग करते हैं। किन्तु त्याग करने वाले अधिकांश त्यागियों के मन में अपने त्याग करने का अहंकार सूक्ष्म रूप से बना रहता है और अपने त्याग की गाथा सुनाकर अथवा त्याग की चर्चा करके उनके अहंकार की तृप्ति होती है।

कंचन तजना सहज है सहज प्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या दुष्कर तजना एह।।

सारा घर-बार त्यागकर, संन्यासी बनकर गंगा में स्नान करते हुए एक साधु दूसरे साधु से लंगोटी पर झगड़ा करता है। एक-दूसरे को ईर्ष्या से कहता है तू नहीं जानता मैं लाखों की सम्पत्ति छोड़कर संन्यासी बना हूं, तेरे जैसे लाखों भिखमंगों को मैंने वस्त्र दान में दिए हैं। वास्तव में यह साधु संसार के बहिरंग का त्यागी है किन्तु सारा संसार उसके सूक्ष्म अहंकार से बंधा हुआ उसकी लंगोटी में सिमटकर जंगल में भी पहुंच गया है। जब कर्तापन का अहंकार बड़े-बड़े दानवीरों और त्यागियों को भी आता रहता है तो सामान्य गृहस्थी को यह कैसे छोड़ सकता है? यह विश्व प्रपंच के करुण जंजाल का अन्तिम सूक्ष्मतम बंधन है। कोई अच्छे से अच्छा कर्म करके अपना अहंकार बखानने लगता है तो वह वैसा ही है जैसे उत्तम से उत्तम मोहनभोग (हलवा) बनाकर उसमें मुट्ठी भर रेत डाल दी जाए। यह क्षुद्र अहंकार ही मनुष्य को स्वार्थी, समाजद्वेषी एवं ब्रह्म से वियुक्त करने वाला कारण है। समाज में स्वार्थ के संघर्षों की अपेक्षा अहंकार के संघर्ष अधिक चल रहे हैं। दो कुत्ते हड्डी के लिए लड़ते हैं पर दो नेता अहंकार की लड़ाई, प्रतिष्ठा की लड़ाई, ईर्ष्या की लड़ाई में कुत्तों से ज्यादा भयंकर लम्बी लड़ाई लड़ते हैं।

इस प्रकार कर्ता कर्म की रंगत में रंगता जाता है। उसकी आदत में बंधता जाता है। कर्म की आसक्ति में मोहित होता जाता है। फल की वासना में बावला बना रहता है। अहंकार के स्थूल हो जाने से ईश्वर से बिछुड़कर अन्य कार्यकर्ताओं से संघर्ष करता है। तो ऐसा कर्मी जन्म-जन्मान्तरों में कर्मबंधन में ही बंधा रहता है। कर्मबंधन का चक्र चलता रहता है।

कर्म के इन चार बंधनों से मुक्त होना जीवन की सबसे बड़ी कला है इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

योगः कर्मसु कौशलम्।। 2/50, गीता

भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग कर्मों की ऐसी कुशलता है जिसमें कर्म तो अच्छे से अच्छे, भरपूर शक्तिसम्पन्न और परम कल्याणकारी हों किन्तु कर्मबंधन की एक रज भी हमें बांध न सके।

कर्मयोग कर्म की वह कला है जिससे कर्म भी न छूटे और कर्मबंधन से भी बचे रहें। सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। संसार में रहें पर संसार हमारे अन्दर न प्रवेश करे।

कर्मयोग में फलासक्ति, कर्मासक्ति एवं अहंकृति को शिथिलकर अति उत्साहपूर्वक ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म किया जाता है। फलतः कर्मबंधन का हेतु न बनकर मुक्ति का द्वार बन जाता है।

इसकी तीन सीढ़ियां हैं—

(1) सकाम सत्कर्म—अच्छे पुण्य की प्राप्ति के लिए शास्त्रविहित सत्कर्म करना। पर इसमें फलासक्ति, कर्मासक्ति एवं अहंकृति बनी रहने से जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहता है।

(ख) निष्काम कर्मयोग—सत्कर्म करते हुए फल की वांछा का त्याग करना। यह सकाम सत्कर्म की अपेक्षा ऊंची सीढ़ी है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। 2/47, गीता

इसमें युक्ति यह है कि कर्म निष्फल तो न हो पर निष्काम अवश्य हो। यदि कर्म निष्फल होगा तो सारा प्रयत्न व्यर्थ चला जाएगा। अतः कर्म का फल तो अवश्य निकलना चाहिए। समाज के लिए कल्याणकारी अवश्य होना चाहिए चाहे हमें उस कर्म से उत्पन्न फल की रत्ती भर भी इच्छा न हो। उदाहरण—पानी को बिलोना निष्फल है। यह सारे परिश्रम को बेकार नष्ट करना है। यदि पानी बिलोने वाला यों कहे कि मेरे परिश्रम का कोई फल नहीं तो कोई चिन्ता नहीं। क्योंकि

भगवान् ने कहा है कि फल की फिक्र न करें तो उसके कथन को पागलपन कहा जाएगा। जो परिश्रम न करे वह आलसी। जो परिश्रम को वृथा करे वह मूर्ख। जो परिश्रम का दाम पहले चुकाये वह दलाल, जो परिश्रम के बाद पारिश्रमिक मांगे वह व्यवसायी और जो परिश्रम करके फल भगवान् के चरणों पर समर्पित कर दे वह निष्काम कर्मयोगी है।

कर्म संन्यास—निष्काम कर्मयोग द्वारा कर्मों के फूल और कर्मफल का नैवेद्य भगवान् के चरणों पर चढ़ाते-चढ़ाते धीरे-धीरे चित्त शुद्ध हो जाता है। कर्तापन के अहंकार की मैल धुल जाती है और व्यक्ति को यह अनुभूति होने लगती है कि मैं कर्मों का कर्ता हूं ही नहीं। प्रभु के दिए तन से, प्रभु के दिए धन से, प्रभु की दी हुई ज्ञानेंद्रियों से, प्रभु की दी हुई कर्मेन्द्रियों से, प्रभु की दी हुई बुद्धि से, प्रभु के दिए हुए चित्त से, प्रभु के दिए हुए मैं (अहम्) के भाव से, प्रभु के रचे हुए जगत् में, प्रभु के रचे हुए जीवों के प्रति प्रभु की प्रेरणानुसार, प्रभु के दिए हुए साधनों से जो कर्म हो रहा है वह समस्त कर्म प्रभु का ही है। उसमें मेरा क्या? प्रभु ही प्रभु का कार्य कर रहे हैं। अतः मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। तत्त्वतः प्रभु अकर्ता ही हैं। उन्हें सर्वकर्ता कहें अथवा अकर्ता कहें बात एक ही है क्योंकि वे समस्त कर्मों के स्वामी होकर भी कर्मों से अलिप्त हैं। जो कर्ता बनेगा उसे भोक्ता भी बनना पड़ेगा। तत्त्वतः प्रभु न कर्ता हैं न भोक्ता हैं, उनकी आज्ञानुसार प्रकृति ही सब कर्मलीला कर रही है। इसे देखकर वे आनन्दित हो रहे हैं। इस प्रकार कर्मसंन्यास में कर्तापन का अहंकार भी गल जाता है। तब व्यक्ति कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है। यह कर्म-अकर्म की समता है।

कर्म की बहिरंग चेष्टा + कर्तापन का अहंकार = कर्म का स्थूल बंधन।

कर्म की बहिरंग चेष्टा = कर्तापन का अभाव = कर्म में अकर्म दर्शन—विवेकानन्द (कर्मयोगी का)।

कर्म की बहिरंग चेष्टा का लोप + कर्तापन का सूक्ष्म आरोपण (अहंकार) = अकर्म में कर्म दर्शन—रामकृष्ण देव (संन्यासी का)।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। 4/18, गीता

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। 5/7, गीता

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।। 5/8, गीता

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। 5/9, गीता

स्वामी रामतीर्थ—

तमाशा देखने वाला तमाशा खुद न बन जाना।
तमाशाई बने रहना, तमाशा ही देखते रहना।

संसार के दृश्य को देखने के लिए हम निर्लिप्त द्रष्टा बने रहें स्वयं दृश्य न बन जाएं।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। 5/14, गीता

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। 18/14, गीता

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। 18/15, गीता

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।। 18/16, गीता

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। 18/17, गीता

सांख्य और योग में समता

गीता में सांख्य का अर्थ ज्ञानयोग है और योग का अर्थ कर्मयोग है। प्राचीन काल से भारत में दो प्रकार की निष्ठा चली आ रही है। सांख्य निष्ठा और कर्मनिष्ठा। इन्हें ज्ञानयोग और कर्मयोग, निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग कहा जाता है।

ज्ञानमार्गी संसार से निवृत्त होकर सब कर्म-कर्तव्यों को त्यागकर शुद्ध ब्रह्म-चिन्तन करते रहते थे। प्रवृत्तिमार्गी संसार में प्रवेश होकर कर्तव्य कर्म करते हुए धर्म कमाते हुए पुण्य संचय करते हुए ईश्वर प्राप्ति की साधना करते थे। इसे कर्ममार्ग या योगमार्ग भी कहा जाता था क्योंकि संसार में रहते हुए संसार से सम्बन्ध न तोड़ते हुए वे ऐसा योग (युक्ति) लगाते थे जिससे संसार में रहते हुए धर्म साधना चलती रहे। उनकी पहुंच अधिकांश धर्म साधना तक थी। वे धर्म कर्म को ही अधिक महत्त्व देते थे और मोक्ष साधना के लिए अधिक आग्रह नहीं रखते थे। उनमें से कुछ धर्म को ही मोक्ष मानते थे और कुछ धर्म को मोक्ष साधना के लिए आवश्यक सीढ़ी मानते थे।

सनक, सनंदन, सनत्कुमार आदि सांख्यमार्गी निवृत्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी थे। वे संसार में प्रविष्ट हुए ही नहीं। वामदेव, शुकदेव, शंकराचार्य, संत ज्ञानेश्वर

आदि भी निवृत्तिमार्गी थे। अष्टावक्र जन्म से ही निवृत्तिमार्गी थे। याज्ञवल्क्य पहले गृहस्थाश्रमी बाद में निवृत्तिमार्गी बने। वसिष्ठ, विश्वामित्र, प्रवृत्तिमार्गी थे। वेदव्यास पहले गृहस्थाश्रमी थे किन्तु उनके पुत्र शुकदेव जन्म से ही निवृत्तिमार्गी बने। बाद में वेदव्यासजी भी निवृत्तिमार्गी बने। प्राचीन भारतीय ऋषि कुछ गृहस्थाश्रमी थे तथा कुछ विरक्त संन्यासी, निवृत्तिमार्गी। ऋषियों का पितृकुल उनकी संतानों से चलता था। किन्तु गुरुओं का गुरुकुल शिष्य परम्परा से चलता था। प्रवृत्तिमार्ग के कर्मकाण्ड एवं यज्ञविधान की चर्चा एवं दार्शनिक विवेचन पूर्वमीमांसा दर्शन में की गई है। सांख्ययोग के ज्ञानमार्ग की विवेचना उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त में की गई है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों को अलग एवं विपरीत मार्ग माना जा रहा था।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। 3/3, गीता

'हे निष्पाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले ही कही गई है। ज्ञानयोग के द्वारा सांख्यों (अर्थात् ज्ञानयोगियों) की और कर्मयोग के द्वारा (कर्म) योगियों की (निष्ठा कही गई है)।'

गीता ने सांख्य एवं योग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, ज्ञान एवं कर्म दो पृथक् एवं विपरीत प्रतीत होने वाले मार्गों का बड़ा सुन्दर समन्वय कर दिया है। भगवान् कहते हैं कि सांख्य और योग यह दो पृथक् मार्ग केवल बालबुद्धि वालों के लिए पृथक्-पृथक् है। सच्चा पंडित अथवा ज्ञानी पुरुष इन दोनों को अलग-अलग मानता ही नहीं।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।। 5/4, गीता

'बालक (अर्थात् अज्ञानी लोग ही) सांख्य (अर्थात् कर्मसंन्यास) और योग (अर्थात् कर्मयोग) को भिन्न (अर्थात् अलग-अलग फलवाले) कहते हैं, पण्डितगण (ऐसा) नहीं (कहते); (क्योंकि इनमें से) एक में भी उत्तम रूप से स्थित पुरुष दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।'

भगवान् पुनः कहते हैं कि जो परमपद ज्ञानयोग द्वारा प्राप्त होता है, वही परमपद कर्मयोग द्वारा भी प्राप्त होता है। अतः सच्चा ज्ञानी सांख्य और योग दोनों को सम अर्थात् समान देखता है। बिना ज्ञान के कर्म अंधा होगा और बिना कर्म के ज्ञान पंगु होगा। अतः ज्ञान के प्रकाश में कर्म ठीक दिशा में होना चाहिए और ज्ञान मात्र शास्त्रीय सिद्धान्त चर्चा (Theory) मात्र न रहकर क्रियात्मक रूप में वास्तविक जीवन में प्रतिफलित होना चाहिए।

बिना ज्ञान के कर्म में कठिनाइयां

(1) क्या कर्तव्य है तथा क्या अकर्तव्य है, इसकी जानकारी बिना ज्ञान के असम्भव है।

(2) शुभ कर्म एवं अशुभ कर्म का विवेक ज्ञान से ही हो सकता है।

(3) किस कर्म का कैसा परिणाम होता है यह जानकारी हुए बिना कर्म करना अत्यन्त कठिन होता है।

(4) कर्म द्वारा किस लक्ष्य पर पहुंचना है यह भी ज्ञान से ही सम्भव है। बिना लक्ष्य का ज्ञान हुए मन्दिर के स्थान पर श्मशान में जा पहुंचेंगे। मूर्ख व्यक्ति अपनी कर्मशक्ति को व्यर्थ में नष्ट करता रहता है क्योंकि उसे उचित ज्ञान नहीं। पागल व्यक्ति उलटा एवं आत्मनाशी कर्म कर बैठता है क्योंकि उसका ज्ञान विकृत है। अर्ध-निद्रा में व्यक्ति ऊटपटांग कर्म कर बैठता है क्योंकि उसका ज्ञान भ्रान्त है।

(5) बिना ज्ञान के न कर्म का स्वरूप समझ में आएगा न वास्तविक कर्ता का पता चलेगा। न कर्म के बंधनों का ज्ञान होगा न कर्म की फांसी से बचने का उपाय सूझेगा।

(6) व्यक्ति को जब ज्ञान होगा कि कर्मफल कभी नष्ट नहीं होता और फल की कामनाएं त्यागने से फल अनन्त गुणा होकर मिलता है जिस प्रकार बीज को धरती में छोड़ देने पर वह अनन्त गुणा होकर मिलता है, तभी वह कर्मफल को त्यागने का विचार कर सकता है।

(7) जब व्यक्ति को ज्ञान होगा कि समस्त कर्मों का फल भगवान् के चरणों में त्यागने से कर्मचक्र से मुक्ति हो जाएगी तथा बदले में भगवान् की प्राप्ति हो जाएगी, तभी वह प्रसन्नतापूर्वक कर्मफल का त्याग कर सकता है।

(8) कर्मयोगी को जब तक यह ज्ञान नहीं होगा कि वह वास्तव में कर्ता नहीं है और या तो प्रभु ही सर्वकर्ता है या उनकी इच्छानुसार गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और कर्तापन का अभिमान व्यर्थ है, तब तक वह कर्तापन का अभिमान त्यागकर आदर्श निष्काम कर्मयोगी कैसे बन सकता है? अत: बिना ज्ञान के कर्म अंधा ही रहता है।

इसी प्रकार बिना कर्म के ज्ञान थोथा एवं वाणी का विलास मात्र रह जाता है।

(1) प्रत्येक ज्ञान एक सैद्धान्तिक कथन है जिसकी सत्यता को परखने के लिए उसको कृति में उतार कर जांचना आवश्यक है। यही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। Theory must be tested in practical.

(2) प्रत्येक सिद्धान्त व्यापक लोककल्याण, विश्वमंगल, बहुजनहिताय अथवा सर्वजनहिताय बनाया जाता है। Every rule is made for some or all

round public good. यदि किसी नियम अथवा सिद्धान्त से कोई लोकमंगल न होकर लोक का व्यापक अहित होने वाला हो तो उस सिद्धान्त को कोई भी मान्य नहीं करेगा। उदाहरणार्थ—यदि कोई राजा यह नियम बनाए कि प्रत्येक माता अपने शिशु को जन्मते ही उसे सरकारी माल गोदाम में जमा कर देगी और जीवनभर उसकी शक्ल नहीं देखेगी तो यह नियम लोक व्यवहार के विरुद्ध होने के कारण एक क्षण भी नहीं चलेगा। अतः नियमों या सिद्धान्तों से क्या लोकमंगल होने वाला है यह सिद्धान्त को क्रिया में ढालने पर ही पता लगेगा। अतः ज्ञान के सिद्धान्त कितने सत्य और उपयोगी हैं यह ज्ञान को कर्म में उतारने पर ही पता चलेगा।

किसी भी औषधि की उपयोगिता, औषधि की बोतल, उसके लेबल अथवा डॉक्टर की पर्ची या डॉक्टर की योग्यता से आंकी नहीं जा सकती। उसे तो औषधि के प्रयोग से ही आंका जा सकता है। इसी प्रकार से ऊंचे से ऊंचे ज्ञान सिद्धान्त का वास्तविक मूल्य न उसकी शब्दावली, न काव्य, न श्लोक, न ग्रंथ, न लेखक की विद्वत्ता, न तर्कशक्ति, न बौद्धिक ऊहापोह से आंका जा सकता है। उसका वास्तविक मूल्यांकन तो तब होता है जब उस सिद्धान्त को जीवन में उतारने से अधिक से अधिक लोगों का व्यापक हित अथवा अहित होता है। इसलिए बिना क्रियात्मक प्रयोग के सारा ज्ञान थोथा, वाणी विलास या बुद्धि विलास मात्र है।

(3) जो ज्ञानी यह ज्ञान उपदेश करता है कि सब जीवों में एक ही ब्रह्म का प्रकाश है और वास्तविक जीवन में वह अन्य जीवों की हिंसा, हत्या, तिरस्कार, उत्पीड़न एवं ठगी करने में आनन्द लेता है तो उसका ज्ञान मात्र पाखण्ड रह जाता है, क्योंकि उसकी कृति उसके वास्तविक मन और बुद्धि को नग्न रूप में प्रकट कर देती है। यदि ज्ञानी का ज्ञान स्वयं उसकी बुद्धि को लोकमंगल में प्रेरित नहीं कर सकता तो वह अन्य जीवों की बुद्धि को विश्व कल्याण में कैसे प्रेरित करेगा?

(4) सज्जन और दुर्जन की पहचान यही है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।।

(5) भगवान् गीता में ही बताते हैं कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है अन्य लोग उसको देखकर वैसा-वैसा आचरण करने लगते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। 3/21, गीता

श्रेष्ठ (पुरुष) जो-जो आचरण करता है अन्य मनुष्य भी वैसा ही (आचरण) करते हैं। वह जिसे (श्रेष्ठ कहकर) प्रमाणित कर देता है, लोक उसी के अनुसार बरतने लगते हैं।

अतः शिक्षा का सर्वोत्तम मार्ग है गुरुजनों द्वारा अपने ही ज्ञान के अनुरूप आचरण करना। संसार वाणी की अपेक्षा कृति से अधिक सीखता है। मण भर के उपदेश के स्थान पर कण भर का आचरण अधिक प्रभावकारी होता है। लोग मोटे-मोटे पोथों से उतना नहीं सीखते जितना सिखाने वाले गुरु की जीवन की खुली पुस्तक से प्रेरणा मिलती है।

(6) प्राचीन काल में गुरुकुल में शिक्षा देने वाले आचार्य कहलाते थे—

आचरणेन शिक्षति इति आचार्यः।

जो आचरण से शिक्षा देवे वे आचार्य हैं। आजकल आचार्य के स्थान पर व्याख्याता (Lecturer) हो गए हैं—

व्याख्यानेन शिक्षति इति व्याख्याता।

इसलिए ज्ञान और कर्म के बीच की खाई बढ़ती जाती है और समाज संस्कारित होने के स्थान पर कुसंस्कारी होता जाता है।

पर उपदेश कुशल बहुतेरे जे आचरहिं ते नर न घनेरे।। (मानस)

आज दूसरों को उपदेश करने वालों की भरमार हो गई है। अपने ही कहे हुए, उपदेश दिए हुए ज्ञान के विपरीत कर्म करने वाले ढोंगियों को भगवान् ने गीता में मिथ्याचारी कहा है। अतः जो ज्ञान कर्म में प्रतिफलित नहीं होता वह सारा ज्ञान ही मिथ्या ज्ञान बन जाता है और उसके उपदेशक मिथ्याचारी कहलाते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। 3/6, गीता

अतः यदि ज्ञान को मिथ्या न बनाना हो तो उसका कर्म में प्रतिफलन उतना ही आवश्यक है जितना प्राणी का श्वास लेना।

(8) जो ज्ञान होते हुए भी आचरण ज्ञान के अनुकूल नहीं करते वे ज्ञानबंधु कहलाते हैं। और जो धर्म के शाब्दिक ज्ञान के रहने पर भी अधर्म का आचरण करते हैं वे ज्ञानपापी कहलाते हैं। गीता में ऐसे व्यक्तियों को दण्डनीय कहा गया है। भगवान् कृष्ण ने भीष्म और द्रोण का इसलिए वध करवाया क्योंकि वे ज्ञानी होते हुए भी पाप के पक्ष में थे।

गीता की पुष्पिका में कहा गया है—

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।।2।।

इसमें सबसे प्रथम गीता को एक उपनिषद् कहा गया है। किन्तु गीता की यह विलक्षण महिमा है कि यह अन्य उपनिषदों से भिन्न एक विशेष प्रकार का

अद्वितीय उपनिषद् है। जहां अन्य उपनिषद् प्रकृति के शांत वातावरण में, अरण्य आश्रमों या सुन्दर पर्वतों पर गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में गाए गए, वहां गीतारूपी उपनिषद् ने उन्हीं उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान को जीवन की सबसे कठोर परिस्थिति (एक भीषण रणभूमि में, विश्व के महान् संग्राम में) गाकर उस ब्रह्मज्ञान को जीवन में उतारकर ज्ञान का कर्म में प्रतिफलन कर दिखाया गया है।

गीता की पुष्पिका में गीता को ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे कहा गया है। ब्रह्मज्ञान सिद्धान्त है, तत्त्वज्ञान है और योगशास्त्र कर्मयोग मार्ग है, क्रियात्मक प्रयोग है। ब्रह्मज्ञान Theory और कर्मयोग Practical है। गीता की यही विलक्षण विशेषता है।

भगवान् गीता में ही अर्जुन को उपदेश देते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। 8/7, गीता

'हे अर्जुन! तू सब कालों में मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध कर।' यही ब्रह्म चिन्तन और सांसारिक कर्तव्य का समन्वय है। यही ज्ञान और कर्म का समन्वय है, यही सांख्य और योग का समत्व है।

कर्मयोग की साधना द्वारा साधक का चित्त शुद्ध होगा। धीरे-धीरे उसका अहंकार गल जाएगा। उसके चित्त में मिथ्याहंकार या कर्तृत्वाभिमान दूर हो जाएगा। चित्त के निर्मल होते ही उसमें ब्रह्मज्ञान का प्रकाश हो जाएगा। ब्रह्मज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी वह ज्ञानी कर्म करता रहे, क्योंकि उसके जीवित आदर्श से अनेक लोगों को सुन्दर प्रेरणा मिलेगी।

साधनावस्था में निष्काम कर्मयोग की साधना करके अपना विकास करे।

सिद्धावस्था में लोक संग्रह के लिए कर्म करता रहे। कर्म न अज्ञानी को छोड़ना चाहिए न ज्ञानी को, न साधक को छोड़ना चाहिए, न सिद्ध को। साधक को कर्मफल छोड़ना चाहिए, सिद्ध को कर्मसंन्यास के रूप में कर्तापन का अहंकार छोड़कर लोक संग्रहार्थ कर्म करते जाना चाहिए। ज्ञान और कर्म का यह समत्व परम मूल्यवान है।

गीता के अनुसार ईश्वर

Theism का अर्थ है ईश्वरवाद या आस्तिकवाद। इसका कथन है कि ईश्वर है। इसका विपरीत सिद्धान्त नास्तिकवाद Atheism है। इसका कथन है कि ईश्वर नहीं है। भारतीय दर्शन में Theism और Atheism आस्तिकवाद और नास्तिकवाद एक दूसरे अर्थ में भी प्रयोग होते रहे हैं। आस्तिक उन दर्शनधाराओं को माना जो वेद की सत्यता में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत नास्तिक उन दर्शनधाराओं को कहा जाता है जो वेद की प्रमाण सत्ता को स्वीकार नहीं करते। कालान्तर में आस्तिक और नास्तिक का अर्थ वेद के प्रमाण से हटकर ईश्वर के प्रमाण के लिए रूढ हो गया। गीता एक आस्तिक दर्शन का ग्रंथ है। इसमें पग-पग पर ईश्वर की सत्ता एवं महत्ता को स्वीकार किया गया है।

ईश्वरवाद के समान एकेश्वरवाद का सिद्धान्त भी है जिसका भाव यह है कि ईश्वर एक ही है। संसार का कोई भी धर्म अनेक ईश्वरों की सत्ता नहीं मानता। कुछ विवेकहीन आलोचक हिन्दू धर्म में बहुदेववाद को बहुईश्वरवाद कहकर उसकी निन्दा करते हैं। किन्तु, वास्तव में हिन्दू धर्म में Pantheism बहुदेववाद न होकर Panentheism अनेकत्व में एकत्व का दर्शन है। सब भिन्न-भिन्न देवी-देवता एक ही परमेश्वर एक ही अव्यक्त सत्ता की व्यक्त व आंशिक अभिव्यक्तियां हैं। अतः किसी भी देवता की स्तुति अन्ततोगत्वा परमेश्वर की ही स्तुति है। गीता में विभूतियोग दर्शन में एकतत्त्व की अनेकता दर्शायी गई है। किन्तु, साथ ही साथ परोक्ष रूप में उस अनेकता में एकता की ओर इंगित भी किया गया है। जैसे—

पर्वतों में हिमालय
नदियों में गंगा
शस्त्रधारियों में राम
सिद्धों में कपिल मुनि
छन्दों में गायत्री
आदित्यों में सूर्य आदि-आदि।

एक तत्त्व की विभूति फैलकर अनेक वस्तुओं में, व्यक्तियों में, देवों में प्रकाशित हो रही है। इस सबसे मन में एक भ्रान्ति की सम्भावना बन जाती है कि जो प्रकट में अनेकता दिखाई दे रही है उसे केवल कल्पना से एक माना जा रहा है अथवा वह सचमुच में एक ही है। इस संशय के निवारण के लिए भगवान् एकादश अध्याय में विराट् रूप का दर्शन कराते हैं जिसमें सारी अनेकता एक ही व्यक्तित्व में एक साथ समाहित दर्शायी जाती है। इस प्रकार अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का सिद्धान्त गीता द्वारा सिद्ध होता है। जो सूर्य-चन्द्र, अग्नि, नदी, पर्वत, देवता, अवतारी पुरुष, ऋषि-मुनि आदि अलग-अलग विभूतियों के रूप में दर्शाये गए थे, वे सब भगवान् के एक ही विराट् विश्वरूप के अंग हैं।

एकेश्वरवाद से तनिक सूक्ष्म और ऊँचा सिद्धान्त एकतत्त्ववाद है, Monism है। जिसके अनुसार सृष्टि का चरम परम सत्य एक ही है। गीता में स्थान-स्थान पर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। 2/17, गीता

जिसके द्वारा यह समस्त संसार व्याप्त है उसी को तू अविनाशी जान। इस अव्यय (आत्मा) का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

वह परम तत्त्व अव्यक्त है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। 2/28, गीता

वह समस्त देहों का स्वामी देही है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।। 2/30, गीता

एक तत्त्व के अनुसंधान के लिए एकाग्रबुद्धि चाहिए। यदि परम तत्त्व अनेक हो तो बुद्धि एकाग्र न होकर अनेकाग्र हो जाएगी। वह बुद्धि बहुशाखा हो जाएगी। जो गीता के अनुसार अभीष्ट नहीं है।

गीता में परम तत्त्व के लिए सम विशेषण का बार-बार प्रयोग हुआ है—

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' गीता, 5/19

अर्थात् ब्रह्म निर्दोष एवं सम है। प्रकृति की सब वस्तुएं सदोष एवं विकारी हैं। केवल ब्रह्म ही सम एवं अविकारी है। बुलबुले, नदी, नाले, सब विषम एवं विकारी हैं क्योंकि सब बनते, बढ़ते, बिगड़ते और नष्ट हो जाते हैं। भाप को बर्फ नहीं कहा जा सकता और बिन्दु को सिन्धु नहीं क्योंकि सब विषम हैं। उनके नाम रूप-गुण सब विषम हैं। किन्तु, सभी में जल तत्त्व सम है।

गीता के नवम अध्याय में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

'यद्यपि मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूं। न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है। परन्तु, जो भक्त मेरे को प्रेम से भजते हैं वे मेरे में और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूं।' सम को प्राप्त करने को ही समाप्त (सम्+आप्त) कहते हैं। नदियों में तभी तक गति रहती है जब तक वह समतल को नहीं प्राप्त करती हैं। समतल कहे जाने वाले मैदानों में भी कुछ न कुछ ऊँची-नीची विषमता रहती है। अन्तिम समवस्था समुद्र में ही है। अतः सब नदियां अपने नाम-रूप को भुलाकर अन्त में समरूपी सागर में जाकर लय हो जाती है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। 2/70, गीता

इस ब्राह्मी-स्थिति का वर्णन गीता में किया गया है। जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिरबुद्धि पुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं वह पुरुष परम शान्ति को प्राप्त करता है न कि भोगों को चाहने वाला।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। 2/72, गीता

'हे पार्थ! यही ब्राह्मी-स्थिति (अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति) है। इस अवस्था को प्राप्त होकर (मनुष्य) कभी मोहित नहीं होता। अन्तकाल में भी इस (अवस्था) में प्रतिष्ठित होकर वह ब्रह्मनिर्वाण (अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता की शान्ति) को प्राप्त हो जाता है।'

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।। 11/29, गीता

'जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं वैसे ही ये शूरवीर मनुष्यों के समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखों में नाश के लिए बड़े वेग से प्रवेश कर रहे हैं।'

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

'जो विनाशशील वस्तुओं में अविनाशी तत्त्व को देखता है वही यथार्थ देखता है।'

अविभक्तं विभक्तेषु

'जो विभक्त वस्तुओं में अविभक्त तत्त्व है।'

निर्द्वन्द्वो

अर्थात् द्वन्द्वों से परे है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। 13/27, गीता

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। 13/28, गीता

'समस्त विनाशशील प्राणियों में समभाव में स्थित विनाशरहित परमेश्वर को जो देखता है वही (यथार्थतः) देखता है। क्योंकि सर्वत्र समभाव से अवस्थित ईश्वर को समरूप से देखने वाला अपने द्वारा अपने को नहीं मारता। इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।'

इन सबसे एक अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा होती है, किसी व्यक्तिगत ईश्वर की नहीं।

गीता की एक महत्ता इस बात में है कि इसमें भारत की सभी दर्शनधाराओं का सुन्दर समन्वय है। एक ओर इसमें अद्वैत वेदान्त के चरम परम सत्य की प्रतिष्ठा है। जो अज है, अक्षर है, अव्यक्त है, सम है, सर्वव्यापी है, ज्योति की ज्योति है।

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' है। वह पुरुषोत्तम पुरुष है। वह क्षर और अक्षर से भी परे है। वह प्रकृति का साक्षी पुरुष है। ऐसे परमेश्वर की पूजा-प्रतिष्ठा करने या उसकी शरण में जाने का न स्थान बचता है न कोई तर्कसम्मत आवश्यकता ही है। अन्ततोगत्वा जब सब एक तत्त्व ही है तो कौन किसकी पूजा करे।

भक्ति के लिए व्यक्तिगत ईश्वर के सगुण साकार रूप की आवश्यकता पड़ती है जो ईश्वर न्यायकारी होने के साथ कृपालु भी हो। परम प्रेम का विषय भी हो, सच्चा सुहृद हो, माता-पिता के समान सन्तान के पापों को क्षमा करने वाला हो। रक्षक हो। वीर हो। शक्ति, शील, सौन्दर्य के गुणों से विभूषित हो। मानवीय आदर्शों का प्रतिमान हो। मानवीय भावनाओं को समझने वाला हो। ऐसा ईश्वर निराकार, निर्विकार, निरुपाधिक ब्रह्म नहीं हो सकता। वह तो विशिष्ट गुणों से युक्त विशिष्टाद्वैत का, भक्ति का लक्ष्य एक सगुण साकार ईश्वर ही हो सकता है। जो मानव के समान भावुक और भावनाप्रवण हो। गीता ने ऐसे ईश्वर के लिए भी उचित स्थान बताया है।

(क) गीता का ईश्वर निराकार होते हुए साकार भी है। अव्यक्त होते हुए व्यक्त भी है। उसके व्यक्त रूप की व्याख्या भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। रामानुजाचार्य एवं अन्य पौराणिक टीकाकार एक ऐसे ईश्वर का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जो विष्णुरूप में वैकुण्ठ या क्षीरसागर में विराजमान है जो भक्तों की हर भावना को तुरन्त समझकर प्रत्येक प्रार्थना को सुनकर उसके अनुरूप उन्हें रक्षा एवं कृपा प्रदान करता है। वह न्यायकारी से अधिक कृपालु है और शरण में आने वालों पर विशेष कृपाकर उनके दुःख-दर्द एवं कष्टों का निवारण करता है। जो भक्तों का भारवाहक सेवक बनकर तथा उनका योग उनके घर पहुँचाता है और चौकीदार बनकर उनके क्षेम की रक्षा करता है। इस प्रकार ईश्वर अपने भक्तों का भी भक्त बन जाता है। गीता के द्वादश अध्याय तथा नवम अध्याय के कुछ अंश ऐसे व्यक्तिगत ईश्वर की प्रतिष्ठा करते हैं। भगवान् कहते हैं—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।। 9/17, गीता

'मैं ही सारे जगत् का पिता हूं। मैं ही सबका माता, धाता (धारण करने वाला) और पितामह हूं। मैं ही जानने योग्य पवित्र ॐ तथा मैं ही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हूं।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। 9/22, गीता

'अनन्य भाव से जो भक्त मेरा चिन्तन करते हैं, उपासना करते हैं। मैं उनके योगक्षेम स्वयं वहन करता हूं।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। 9/34, गीता

'मेरे में मन वाले बनो। मेरा ही यजन करो। मेरे को नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे परायण हुए मेरी आत्मा बनकर मुझमें प्रवेश कर जाओगे।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। 12/6, गीता

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। 12/7, गीता

(ख) व्यक्तिगत ईश्वर या सगुण साकार ईश्वर का दूसरा रूप है विभूति दर्शन। परमेश्वर भले ही अव्यक्त है। किन्तु, वह विशिष्ट विभूतियों में व्यक्त

होता है। जैसे इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य-चन्द्र, राम-कृष्ण, कपिल, व्यास, भृगु, हिमालय, गंगा, गायत्री आदि में। इसलिए इन विभूतियों की पूजा करना भी परमेश्वर की पूजा है। कुछ विभूतियां व्यक्तिरूप में, कुछ शक्तिरूप में, कुछ प्रकृतिरूप, कुछ मंत्ररूप हैं। व्यास, कपिल, भृगु, राम, कृष्ण आदि व्यक्तिरूप विभूतियां हैं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य, चन्द्र आदि शक्तिरूप विभूतियां हैं। गंगा, हिमालय आदि प्राकृतिक विभूतियां हैं। ॐ गायत्री आदि मंत्ररूप विभूतियां हैं। क्योंकि अव्यक्त पर ध्यान जमाना कठिन होता है, इसलिए व्यक्ति विभूतियों के माध्यम से ध्यान की एकाग्रता सरल समझी जाती है। साकार की उपासना निराकार की प्राप्ति के लिए सरल मनोवैज्ञानिक साधन है।

(ग) निर्गुण ज्ञानाश्रयी भक्तिशाखा के भक्त मानते हैं कि अव्यक्त परमेश्वर सब में समाया हुआ है। किन्तु, वह अदृश्य रहता है। व्यक्ति के रूप में वह व्यक्त हो जाता है—

सब घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।
वा घट की बलिहारी, जा घट प्रकट होय।।

इस दृष्टि से प्रत्येक मानव ही भगवान् का अवतार है। किन्तु, उसके भीतर भगवान् सुप्त, गुप्त, लुप्त पड़ा रहता है। यदि वह साधना द्वारा अपने अन्तर के नारायण को निकाले तो नर ही नारायण के रूप में पूजा जाने लगता है। जैसे भगवान् शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, भगवान् रमण महर्षि आदि।

(घ) ईश्वर के व्यक्त रूप की एक अन्य व्याख्या यह है कि एक अव्यक्त शक्ति है। यह विराट् विश्व ही इसका व्यक्त रूप है। ईश्वर एक व्यक्ति नहीं है। किन्तु, सभी व्यक्तियों, सभी जीवों, वस्तुओं, सब जड़-चेतन को अपने भीतर समेटे हुए एक विराट् अनन्त पुरुष है। सब जीव उसके अंश हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी।।

ऐसे ईश्वर की पूजा जीवों की सेवा के रूप में ही की जा सकती है। यह मत भगवान् मायानन्द श्रीपाद दामोदर सातवेलकर आदि टीकाकारों का है तथा इसे स्वामी विवेकानन्द आदि ने अपने ढंग से समर्थन दिया है।

गीता का ईश्वरवाद और कृष्ण भक्ति—क्योंकि गीता के गायक भगवान् कृष्ण स्वयं ब्राह्मीस्थिति में ब्रह्मभूत होकर उपदेश कर रहे हैं तथा वे ईश्वर के अवतार हैं, इसलिए गीता में आया 'मैं' शब्द आत्मा या ब्रह्म का ही परिचायक है, शरीरधारी कृष्ण का नहीं। किन्तु सुगंधि के गुण के कारण फूल भी प्रशंसा का पात्र बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण भी

पूजा के पात्र बन गए हैं। महाप्रभु बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, सूरदास, मीराबाई आदि भक्तों ने भगवान् श्रीकृष्ण को भी साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर मानकर उनकी पूजा प्रतिष्ठा की। उनका कथन है **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।'** गीता में भी भगवान् के कृष्णरूप की पूजा के लिए स्थान बन गया है। विभूति योग में भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! पाण्डवों में मैं ही धनंजय, वृष्णिवंशियों में श्रीकृष्ण हूं। समदर्शी ज्ञानी के लक्षणों में भी यही दर्शाया गया—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

'ऐसा ज्ञानी जो सबमें बसने वाले वासुदेव का दर्शन करे वह जगत् में अत्यन्त दुर्लभ है।'

इस प्रकार भगवद्गीता में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत सभी चिन्तनधाराओं के बीज सुरक्षित हैं। गीता एक कामधेनु है जिसका दोहन कर सभी आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की पुष्टि की मुद्रा प्राप्त की। श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय अध्यात्म साधना का एक दुर्लभ समन्वित शास्त्र है।

भारत की आधारभूत आध्यात्मिक जीवन की तथा विश्वात्मा की एकता और अखंडता की धारणाएं; मतों, सम्प्रदायों और धर्मों की सार्वभौमिकता के धार्मिक सिद्धान्त; सार्वभौम धर्म की समर्थक सार्वभौम सत्ता की राजनीतिक धारणा तथा सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानने की नैतिक धारणा; ये सब इसी संस्कृति की प्रांजल अभिव्यक्तियां हैं। महान् भारतीय पंडित शंकर का कथन है : 'मेरी माता देवी पार्वती है, मेरे पिता शिव हैं जिनकी शक्ति को कोई सहन नहीं कर सकता; पार्वती और शिव के भक्तों को मैं अपना सगा-सम्बन्धी मानता हूं, तथा तीनों लोक मेरे अपने देश हैं (स्वदेशः भुवनत्रयम्)।'

—राधाकमल मुकर्जी

ईश्वर संबंधी अवधारणा के सूत्र

Absolute—निराकार, निर्विकार, निरुपाधिक ब्रह्म, पूर्ण परमेश्वर—शंकर

God ईश्वर—सृष्टिकर्ता, सृष्टिपालक, सृष्टि नियामक, संहर्ता

Personal God अवतार राम, कृष्ण, बुद्ध

Personal Idealism व्यक्तिगत ईश्वर पर अवलम्बित अध्यात्मवाद

रामानुज, चैतन्य, तुलसी, सूरदास, भक्तिवेदान्त

Absolute Idealism शंकर

सर्वोच्च स्तर—ईश्वर ब्रह्म में लय

पूजा में भक्ति का स्थान

विचार से.... वृत्ति में

अवतार के बिन्दु

(1) अवतार शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या।

(2) अव+तार = नीचे उतरना। अव्यक्त का व्यक्त होना।

(3) निराकार साकार की समस्या।

वैदिक धर्म, आर्य समाज, बौद्ध धर्म, शंकराचार्य, श्वेताम्बर जैन धर्म, कबीर पंथ, नानक पंथ आदि निराकार ईश्वर को मानने वाले न सगुण साकार को मानते हैं, न अवतार की आवश्यकता है।

(4) सगुण-निर्गुण का अभेद।

गीता, रामानुज एवं तुलसीदास, गुरु गोविन्दसिंह द्वारा अवतार तत्त्व की पुष्टि।

(5) अवतार एवं पैगम्बर में भेद।

(6) जीव की दृष्टि से अवतार की आवश्यकता।

ईश्वर की दृष्टि से अवतार की आवश्यकता।

(7) दशावतार।

(8) अवतार सिद्धान्त और वेदान्त।

अवतार सिद्धान्त की आलोचना।

गीता के अनुसार परम लक्ष्य

जीव देश और काल से बंधा हुआ है। देश हमें एकदेशी बनाकर सीमित कर देता है। हम एक ही समय में यत्र-तत्र सर्वत्र नहीं हो सकते। यदि अत्र हैं तो तत्र नहीं। किसी युक्ति से अत्र-तत्र दोनों जगह हो जाए तो सर्वत्र नहीं। देश हमारे व्यक्तित्व को सीमित कर देता है। देश की दीवारें हमारा गला घोंटती-सी प्रतीत होती है। जब किसी व्यक्ति को एक ही साथ दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर कोई अत्यावश्यक कार्य पड़ जाए तब उसे अनुभव होता है कि देश की सीमा उसके लिए बहुत बड़ा बंधन है। इसी प्रकार काल हमारे व्यक्तित्व को धीरे-धीरे चबाकर खा जाता है। हम शरीरधारी संसार में जीते हैं। किन्तु, काल के पैने दांतों के ऊपर ही हम श्वास ले रहे हैं। प्रतिक्षण जीते हुए भी हम काल का कलेवा बनते जा रहे हैं। कबीर ने ठीक ही कहा है—

जगत् चबैना काल का, कछु मुख में कछु हाथ में।

एक समय था जब हम शरीरधारी रूप में नहीं थे। वर्तमान में हम शरीरधारी रूप में हैं। पुनः हम शरीर त्याग कर अदृश्य हो जाएंगे। ऐसा काल के बीतने से होता है। काल का एक अर्थ है समय। दूसरा अर्थ है मृत्यु। समय की गति ही मृत्यु का निमंत्रण है। कोई भी मनुष्य काल का कलेवा नहीं बनना चाहता क्योंकि वह अपने तात्त्विक स्वरूप में अमर है। हर जीव के भीतर यह आन्तरिक अभिलाषा है कि वह काल के दांतों को तोड़ दे और देश के बंधन की दीवारों को फोड़ दे। देश-काल के इस सीमा बंधन से मुक्ति ही मनुष्य की आन्तरिक अभिलाषा है। इसे ही मुमुक्षा या मोक्ष की इच्छा कहा जाता है। यही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। मनुष्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक बनना चाहता है।

अब प्रकृति के नियमानुसार कोई भी भौतिक वस्तु सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हो सकती। वह एकदेशी, विकारी एवं क्षणभंगुर ही हो सकती है। अविकारी, अविनाशी तत्त्व जड़ न होकर चेतन ही हो सकता है। चेतना जीव में भी है। किन्तु, वह सीमित चेतना है। वह विश्व चेतना, सार्वकालिक चेतना को प्राप्त करना चाहता है। इस पूर्ण चैतन्य को पूर्णात्मा, परमात्मा, ब्रह्म, विराट्, भूमा आदि नामों से बखान किया जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि जीव व्यक्तिगत चेतना से विश्व चेतना तक किस प्रकार विकास करे। गीता ने इसके लिए बड़ा मनोवैज्ञानिक मार्ग सुझाया है।

चेतना के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक, रागात्मक एवं संकल्पात्मक—ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति। इसी के आधार पर तीन मार्ग बनते हैं—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग।

पूर्ण तथा अपूर्ण

(1) गणित की जितनी संख्याएं हैं वे मानव की बुद्धि से निकली हैं। और मानव की बुद्धि सीमित है। इसलिए मानव की बुद्धि से निकली हुई संख्याएं पूर्ण नहीं हो सकती है। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि पूर्ण नहीं है और न बुद्धि से प्रकट संख्या ही।

(2) जितनी संख्याएं हैं सभी अपूर्ण हैं। क्योंकि वे विकारी हैं। उनमें परिवर्तन या विकार हो सकता है।

(3) गणित में 4 प्रकार के परिवर्तन या विकार होते हैं—

(क) योग = जो संख्या बढ़ सकती है वह न्यून है।

(ख) शेष = जो संख्या घट सकती है वह क्षयशील है।

(ग) भाग = जो संख्या बंट सकती है वह खंडित, टुकड़े, विभाग।

(घ) गुणा = जो संख्या गुणा करने पर अपने समान अनेक अन्य संख्या बनाए।

(4) कोई बड़ी से बड़ी संख्या लें तो उसमें भी 1 बढ़ाया जा सकता है।

1000 ....+1=1001

अतः वह पूर्ण नहीं थी। इसलिए बढ़ायी जा सकी। उसे घटाया भी जा सकता है।

1000 .... - 1=999

उसका भाग भी किया जा सकता है÷

टुकड़े हो सकते हैं। उसे गुणा भी किया जा सकता है।

(5) पूर्ण में कोई विकार नहीं हो सकता। अपूर्ण ही विकारी होता है।

(6) भौतिक जगत् की प्रत्येक वस्तु अपूर्ण है।

(7) आत्मा एक पूर्ण चैतन्य सत्ता है। यदि वह पूर्ण है तो वह कभी अपूर्ण नहीं रह सकती। पूर्ण कभी घटता, बढ़ता, बंटता या गुणन होता नहीं—वह सदा पूर्ण रहे तभी पूर्ण कहलाने का अधिकारी है।

(8) पूर्ण = अनन्त Infinite अविकारी $\propto$

अपूर्ण = सान्त विकारी

(9) infinite अनन्त पर लौकिक गणित का कोई सूत्र लागू नहीं होता।

$\propto+\propto=\propto$

$\propto-\propto=\propto$

$\propto\div\propto=\propto$

$\propto\times\propto=\propto$

(10) पूर्ण योग (जोड़) से परे है।

पूर्ण अक्षय है

पूर्ण अविभक्त है

पूर्ण गुणन से परे है, निर्गुण है।

(11) Causality कार्य-कारणवाद दो प्रकार का होता है। (क) साधारण विज्ञान में सामान्य व्यवहार में Transient Causality अस्थायी कारण परम्परा Cause produces the effect.

(ख) उच्च विज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान (वेदान्त में) Immanent causality अन्तर्भूत कारणवाद ही Cause does not produce the effect cause become the effect. कारण स्वयं कार्य बन जाता है। विज्ञान में Ice disolve produce water but Ice become water by Heat.

वेदान्त में God does not produce the world but become the world. ईश्वर स्वयं जगत् बन जाता है—

'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः।'

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म ही है।

सब घट मेरा साईंया
सूनी सेज न कोय
वा घट की बलिहारियां
जा घट प्रकट होय।

बर्फ में पानी विद्यमान है, बिजली में शक्ति विद्यमान है। जीव में ईश्वर विद्यमान है। पर जब वह प्रकट हो जाता है तब पूजा जाता है।

पूर्ण से ही पूर्ण प्रकट होता है।

आकाश = खाली स्थान

पूर्ण की आकाश से उपमा

महाकाश = अनन्त

10 करोड़ मठाकाश

प्रत्येक मठ में 10 करोड़ घट बनाए = घटाकाश 10 करोड़ × 10 करोड़

आकाश बिना कटे, बिना बंटे अनन्त घटों में समा गया, निर्लिप्त।

आकाश एक अखण्ड। पूर्ण रहते हुए भी अनेकानेक घटों में, मठों में समा जाता है—

100000000000000000 घट बनने पर महाकाश में क्षति नहीं हुई।

100000000000000000 घटों के टूटने पर आकाश में वृद्धि नहीं हुई।

महाकाश का विभाजन भी नहीं हुआ। उसको गुणन से बढ़ाया भी नहीं जा सकता।

घटाकाश घट फूटने पर मठाकाश में मिल गया।

मठ टूटने पर मठाकाश महाकाश से मिल गया।

महाकाश में न न्यूनता हुई न वृद्धि हुई।

अनन्त (पूर्ण) + पूर्ण = पूर्ण

पूर्ण - पूर्ण = पूर्ण

आम का बीज लगाने पर आम का वृक्ष हुआ। वृक्ष में पुनः पूरे आम लगे।

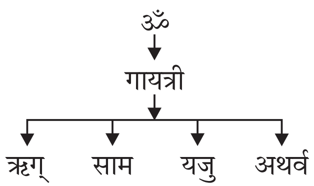
ब्रह्म से सृष्टि- मानव। मानव में पुनः ब्रह्मज्ञान का प्रकाश होने पर मानव पुकार उठा- अहं ब्रह्माऽस्मि।

पूर्ण आम से पूर्ण आम का फल लगा (बीज)।

ॐ- अ+उ+म्

सत्-चित्-आनन्द

त्रिलोक, त्रिकाल, तीन गुण, तीन देव, वेदत्रयी। वैदिक साहित्य में रहस्यमय ध्वनि जो ब्रह्म का प्रतीक है।



वेद एवं गीता में प्रतिपादित प्रणव (ओम्कार) ॐ विश्वव्यापी स्वाभाविक दिव्य ध्वनि है। जो शंखनाद, प्रणव ध्वनि, योगियों के अनहद नाद से लेकर लैटिन भाषा के Omni present,

omniscent, omnipotent शब्दों में भी सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान के पीछे के 'सर्व' का सूचक है। तथा ईसाई एवं इस्लामी प्रार्थना के अन्त में उच्चारित हिब्रू (यहूदी) शब्द आमीन में भी गूँज रहा है। अब वैज्ञानिक भी स्वीकारने लगे है सूर्य की रश्मि में स्पष्ट तीन ध्वनियां 'अ+ऊ+म् सुनाई पड़ रही है। वेद प्रकट होने के पूर्व प्रणव (ओम) रूप में था।

(2) ईशावास्यंयमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

विश्व में जो कुछ भी है, सब कुछ ईश्वर से आच्छादित है।

(क) सब कुछ ईश्वर का है।

(ख) सब कुछ ईश्वर द्वारा निर्मित है।

(ग) सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है।

(घ) सब कुछ ईश्वर में ही है।

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (वेद)

उसने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गया या ईश्वर ही जगत् बन गया है।

(3) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।

उस परमेश्वर के लिए समर्पण करके विषयों को भोगो।

(4) मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।

किसी के धन की ओर लोभ की दृष्टि मत रखो।

उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

कठ उ., 1/3/14

अर्थात्

आर्य अध्यात्म-मार्ग के पथिको!

उठो! जागो!

श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो! तत्त्वज्ञानी उस दुर्गम अध्यात्म-मार्ग को छुरे की तीक्ष्ण तथा दुस्तर धार के समान बतलाते हैं।